भारतीय संस्कृति एवं संविधान

लेखक

रामाश्रय तिवारी

प्रकाशकः

रामाश्रय तिवारी

बी 38/51-च-4ए, तुलसीपुर, महमूरगंज, वाराणसी

******

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रुपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।
वन्दे शिवं गुरुं साक्षात् दक्षिणामूर्तिरुपिणम्।
सृष्टिस्थितिलयाः तुर्यः यस्मिन् स्वाभाविकी गतिः।।

******

प्रथम संस्करण - 2019
© रामाश्रय तिवारी
प्रकाशकः
रामाश्रय तिवारी
बी 38/51-च-4ए, तुलसीपुर, महमूरगंज, वाराणसी
मोबाइलः 9453361723
मूल्य : ₹ 91/-

अनुक्रमणिका

1. भूमिका	1
भाग - 1	
2. संस्कृति का परिचय	4
भाग -2	
3. संस्कृति के विशेष लक्षण	10
भाग -3	
4. संविधान की पृष्ठभूमि एवं प्रासंगिक अंश	21
भाग -4	
5.पुनरावलोकन योग्य मुख्य बिन्दु	46

भारतीय संस्कृति एवं संविधान

भूमिका

भारत में राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ नये युग का आरम्भ हुआ। इससे सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाएं प्रभावित हुई ही हैं, आर्थिक स्रोत एवं सभ्यता के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ है। मूल्यों में परिवर्तन के कारण जीवन की परिभाषा भी बदल जाती है। काल का प्रभाव भी इन सब का कारण है, और काल का कारण राजा (शासन) माना गया है–''राजा कालस्य कारणम्'' (शान्तिपर्व)। इस परिवर्तन से उत्पन्न स्थिति के गुण-दोष, विकास-ह्रास आदि का आकलन करना चिन्तकों का स्वभाव है। स्ववश होने पर दोषों का निराकरण करना एवं परवश होने पर कच्छपवृत्ति से आत्मरक्षा का उपाय बताने वाले भी युगानुसार पैदा होते रहते हैं। इस क्रम में वर्तमान भारतीय शासन प्रणाली तथा उसके प्रभाव का अध्ययन करना आवश्यक है।

मुगल काल से लेकर ब्रिटिश शासन काल तक परवशता के कारण, भारतीय चिन्तकों ने राजनैतिक स्वतंत्रता को अधिक महत्व दिया। अब, स्वतंत्र देश में हम लोकतंत्र को वास्तविक रूप में स्थापित करें। इसके लिए भारतीय संस्कृति को आधार मानते हुए देश के संविधान में संशोधन आवश्यक है। वर्तमान संविधान, उसके अधीन बने कानून और नियमों में पाश्चात्य संस्कृति और जीवन शैली को स्थापित करने का प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। तद्नुसार विकृतियाँ भी समाज में उत्पन्न हो रही हैं। सबसे बड़ी विकृति है कि जातिवाद तथा सम्प्रदायवाद के कारण वर्ग-विद्वेष एवं सामाजिक समरसता का लोप हो रहा है। मूल्यों की मान्यता बदलकर सामाजिक आदर्शों को शीर्षसन पर खड़ा कर दिया गया है। जो अनुचित परिवर्तन पराधीनता के समय में नहीं हो पाये, वे अब स्वतंत्रता के समय हो रहे हैं, यह शोचनीय स्थिति है। स्वतंत्रता का कुपरिणाम नहीं होना चाहिए।

समस्त विश्व में आर्थिक विकास एवं जीवनस्तर में उन्नति हो रही है। इसका श्रेय वैज्ञानिक खोजों को दिया जायेगा। भोजन और मकान की पूर्ति

आसान हो गयी है। आवागमन के साधनों के कारण पृथ्वी की विशालता छोटी होने लगी है। अपने देश में इन सबके होते हुए भी भ्रष्टाचार, आतंकवाद, हिंसा, आपसी मतभेद एवं शान्ति-व्यवस्था का अभाव बढ रहा है। इसका कारण हमारे आचरण में सत्य का अभाव है। पाखण्ड से ही शक्ति एवं पद-प्रतिष्ठा की व्यवस्था की जा रही है। इसके अलावा अपने अस्मिता को भूलकर विदेशों की नकल, सांस्कृतिक पतन और उससे हो रहे सामाजिक विघटन के कारण भी स्वतंत्रता एवं विकास का प्रदर्शन व्यर्थ हो रहा है। अतः संस्कृति को पुनः स्थापित करना आवश्यक है। इसी के स्थापित होने पर हम विश्व में विशिष्ट बने रहेगे। जगत गुरु रहने वाला यह देश पुनः उस पदवी को पा सकता है। अपनी पारसमणि को फेंक कर गुंजा एकत्र करने की गलती, मूर्ख भीलनी की तरह, नहीं करनी चाहिए। प्रबुद्ध लोगों में कर्तव्य-बोध उत्पन्न होने पर, जन-जागरण द्वारा हम अपने स्वाभिमान को प्रतिष्ठित कर सकेंगे। स्वाभिमान और स्वदेशी की भावना का आदर होने पर हमें अपनी संस्कृति के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होगा।

हमारी संस्कृति क्या है? यह प्रश्न बहुत लोग करते हैं। इस पुस्तक में इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए भारतीय संस्कृति का परिचय दिया गया है। कुछ लोग स्मृतियों को शोषण का माध्यम कहकर अनादर करने का प्रयास करते हैं। किन्तु इस गलत धारणा से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को देखते हुए उन लोगों की बुद्धि भी सही दिशा में चिन्तन करने में समर्थ बनेगी। सम्पूर्ण समाज की शान्ति व्यवस्था के साथ समरसता का वातावरण और व्यक्ति की अनन्त उपलब्धियों की संभावना बनाये रखने के लिए ऋषियों द्वारा प्रवर्तित एवं परिष्कृत संस्कृति को हेय समझना निन्दनीय बुद्धि का लक्षण है। जाति और सम्प्रदाय के प्रति पूर्वाग्रह को छोड़कर चिन्तन करने की क्षमता उत्पन्न होने पर मानव मात्र के कल्याण, देश प्रेम, राष्ट्रीयता तथा संस्कृति के प्रति आदर जैसे उदात्त विचार उत्पन्न होंगे। इसी से कल्याण संभव है।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान का पुनरावलोकन आवश्यक है। भारतीय संविधान में संशोधन का प्राविधान है। मूलाधिकार व उद्देश्यिका (Preamble) भी बदले जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में संविधान में संशोधन एवं परिष्कार की बात करना, उसका अनादर नहीं है। संविधान

का अनादर करना अराजकता है जो पाप माना जाता है–''न हि पापात्परतरम् अस्ति किञ्चिदराजकात् (महाभारत)। संशोधन करना संविधान का सम्मान है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान, राष्ट्र की गरिमा तथा उसके स्वाभिमान की रक्षा, गुलामी की मानसिकता के निराकरण जैसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान में संशोधन अपेक्षित है। भारतीय चिन्तन प्रणाली से सोचने की क्षमता रखने वाले महान चिन्तकों के सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं होगा। ऐसे लोगों में ही इस देश का गौरवमय इतिहास, इसकी सांस्कृतिक सम्पदा, इसमें उत्पन्न महापुरुषों की जीवनी, इसकी सांस्कृतिक संजीवनी शक्ति का ज्ञान तथा स्वदेशी की भावना को समझने की क्षमता संभव है। स्वतंत्रता के पूर्व की भावना पुनः उदित होने पर ऐसे योग्य और निष्पक्ष लोग संसद में पहुँचेंगे, तभी स्वतंत्रता का उद्देश्य पूरा होगा।

यह कृति प्रेरणा जाग्रत करने के लिए एक प्रयास है। किसी सामाजिक कार्य से यश या अपयश मिलना स्वाभाविक है। अहंकार या दुराग्रह की पूर्ति के लिए इसे नहीं लिखा गया है। सारे राजनीतिक दल किसी न किसी दोष के कारण सन्देहास्पद हैं। अतः किसी दल से इन विचारों को न जोड़ा जाय। जहाँ तक संभव है निष्पक्ष चिन्तन किया गया है।

रघुवंश महाकाव्य के आदि में कालिदास को शंका थी कि कहीं उनकी कृति उपहास का विषय न बन जाय। उनकी शंका तो यश के आकांक्षा के कारण थी। हमारी भी शंका ऐसी ही है कि इसका कुछ प्रभाव न पड़ने पर मुझे भी उपहास का पात्र बनना पड़ेगा। यश की इच्छा तो नहीं है किन्तु अपयश से भय अवश्य है। इस भय का निवारण भवभूति की आशावादी उक्ति से करता हूँ–''आविर्भविष्यति कोऽपि समानधर्मा कालोऽयं निरवधिः विपुला च पृथ्वी'' अर्थात् देश बहुत बड़ा है और समय की सीमा नहीं है। कहीं, कभी, कोई इन बातों का आदर करेगा। इस संबल के साथ प्रस्थान करता हूँ।

रामाश्रय तिवारी

भाग-1

संस्कृति का परिचय

इस देश की संस्कृति का मूल वेद है। ऋषियों तथा तपस्वियों की ज्ञान राशि का संकलन वेदों में है। यह ज्ञान राशि अनादिकाल से है तथा अनन्तकाल तक रहेगी। अनन्त आकाश में सारी घटनाओं और सारे शब्दों का सुरक्षित होना विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है। अतः देश काल की सीमा के परे वेद का ज्ञान मानना रूढ़िवाद नहीं है। यह विज्ञान द्वारा भी मान्य है। इस ज्ञान को विद्युत की गति से भी अधिक गतिमान मन तथा व्यापक बुद्धि द्वारा समाधिस्थ होकर, ऋषियों ने पाया। अनन्त आकाश में अनन्त वेद राशि उपस्थित हैं–''अनन्ताः वै वेदाः' बताया गया है। इस राशि में से अल्पांश ही पृथ्वी लोक पर प्राप्त किया जा सका। प्राप्त ज्ञान को वेद-व्यास ने चार भागों में बाँटकर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, नाम से चार संहिताएँ बना दिया है। उपयोगिता के अनुसार यह विभाजन है। संहिताओं का विस्तार उनके ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषियों ने ही किया। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद आरण्यक और अन्त में उपनिषद् भाग उपलब्ध होते हैं। यहाँ तक का ज्ञान वेद के नाम से जाना जाता है।

इन ग्रन्थों को समझना कठिन है। ग्राम्य और दृष्ट अर्थ लगाना पर्याप्त नहीं है। इन्हें समझने के लिए निर्धारित प्रक्रिया है। वेद को छह अंगों के साथ पढ़ा जाता है। छह अंग हैं–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। वेदों से छः शास्त्र निर्गत हैं जो सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त है। इनके अलावा वेदों का अर्थ समझने के लिए इतिहास व पुराण की भी सहायता ली जाती है। यह दोनों तर्क एवं व्यवहार से सिद्ध होने पर ही मान्य होते हैं। किन्तु सामान्यतया प्रमाणभूत माने जाते हैं।

इतने बड़े साहित्य का आलोड़न करके ऋषियों ने धर्मशास्त्र बनाया। मनुस्मृति धर्मशास्त्र की एक वृहद् संहिता है, जिसमें सभी कोटि के मनुष्यों तथा समाज के विभिन्न अंगों के साथ राजधर्म का भी विवेचन है। इसके आधार पर, समयानुसार संशोधन करके, अनेक स्मृतियाँ बनी हैं। वेद-सम्मत स्मृतियाँ ही भारतीय संस्कृति की नींव रही हैं। पाखण्डियों द्वारा

बनाये गये शास्त्र अमान्य एवं लुप्त होते रहे हैं। भारतीय संस्कृत के निर्माण मे उपरोक्त साहित्य तथा चिन्तकों का अवदान तो है ही, कवियों ने भी अपनी कृतियों में, उदात्त चरित्रों के माध्यम से इस ज्ञान को जन सामान्य तक पहुचाया। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ आदि तथा तुलसी जैसे सन्तों ने इसे सुरक्षित रखने की सामग्री दिया हे।

संक्षेप में यही सब भारतीय संस्कृति के स्रोत हैं। शास्त्रों का पढ़ना सबके लिए सम्भव नहीं है। सदाचार सम्पन्न महापुरुषों तथा परम्पराओं के माध्यम से इसे सभी जानते है।। स्थानीयप्रभाव से तथा दीर्घकालीन होने से परम्पराओं में, कहीं-कहीं, दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जिसके लिए सजग प्रहरी–साधु-सन्त, संन्यासी एवं पुरोहित के रूप में, समाज में उपलब्ध रहते थे। इतनी पुरानी और सम्पन्न संस्कृति को मनुवादी के नाम से हेय मान लेना भारतीय समाज एवं संस्कृति के साथ अपराध है। वर्तमान की आवश्यकता के अनुसार संस्कृति का भी संस्कार किया जा सकता है जिसके लिए वही मनुवादी ही समर्थ हैं।

सामाजिक संगठन में भारतीय संस्कृति को महत्व दिया जाना है। भारतीय संस्कृति को जानने के लिए इसका स्वरूप यहाँ स्पष्ट किया गया है।

संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द एक अर्थ में भी प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु दोनों के स्वरूप वास्तव में भिन्न-भिन्न होते हैं। सदियों से विकसित हो रही आचार, व्यवहार, परम्परा आदि की शृंखला ही संस्कृति है तथा उसका आचरण करना सभ्यता। सभ्यता शरीर है और संस्कृति उसका प्राण। सभ्यता जड़ तत्व है, शीघ्र परिवर्तनीय है जबकि संस्कृति में चैतन्य होता है। वह अपने मूल रूप में रहना चाहती है। सभ्यता मन के व्यापार पर आश्रित हो जाती है। किन्तु संस्कृति बुद्धिबल का आश्रय लेती है। संस्कृति अपनी होती है किन्तु सभ्यता देशी विदेशी दोनों का मिश्रण हो सकती है। संस्कृति देश के मौलिक तत्व (जलवायु पर्वत, नदी, वनस्पति आदि) से प्रभावित होती है। मूल से जुड़े होने के कारण इसमें परिवर्तन मन्दगति से संभव है जबकि सभ्यता मूल को पकड़ती छोड़ती रहती है। संस्कृति सभ्यता पर अंकुश लगा सकती है तो अच्छा है किन्तु सभ्यता का अंकुश, संस्कृति के ऊपर बहुत हानिकारक है। सभ्यता नष्ट हो सकती है किन्तु संस्कृति का बीज अमर होता है। धरती के गुणों से सम्बद्ध होने के

कारण वह पुनः विकसित हो सकती है। इस तरह सभ्यता और संस्कृति में भेद समझते हुए, अपनी मूल संस्कृति की सुरक्षा अभिप्रेत है। वेश-भूषा में अन्तर होने पर भी ''दिल है हिन्दुस्तानी'' मानना उचित है।

भारतीय संस्कृति का मूल वैदिक साहित्य है। इसके बाद इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, महापुरुषों, सन्तों की जीवनी से इस संस्कृति का विकास हुआ है। प्राचीनतम संस्कृति होने के कारण इसमें कई दिशाओं से प्रक्षेप और बाह्य प्रभाव भी आये हैं। समय-समय पर महापुरुषों ने इसका उद्धार किया है। तिलक, मालवीया, गान्धी जैसे लोगों ने, तथा परम्पराओं से चिपकी रहने वाली जातियों ने आधुनिक काल तक सुरक्षित रखा है। लम्बी राजनैतिक गुलामी के बावजूद यह देश सांस्कृतिक गुलामी से बचा रहा। इसका कारण था कि जनमानस द्वारा संस्कृति दृढ़ता पूर्वक ग्रहीत थी। हमारे सामाजिक मूल्यों के कारण संस्कृत सुरक्षित थी। स्वतंत्रता के बाद इस देश का नेतृत्व संस्कृति की उपेक्षा करने लगा। जनता को भी बलात् बाह्य संस्कृतियों के रंग में लाने का प्रयास होने लगा। अपने लोगों के विद्रोह के कारण संस्कृति इस समय संकट में है। संस्कृति के मूल तत्वों को व्यवहार में तथा कानून द्वारा बदल दिया गया तथा यह प्रक्रिया चल रही है। फिर भी संस्कृति की पहचान बनी है तथा पुनरुद्धार सम्भव है।

संस्कृति की जड़ों का सिंचन धर्म एवं सामाजिक परम्पराओं से होता है। भारत में अनेक सम्प्रदाय तथा विविध परम्पराएँ हैं। विश्व के सभी धर्मों के लक्षण भारत के किसी न किसी सम्प्रदाय में मिलते हैं। इस तरह यहाँ के समाज एवं धर्म में विविधता है। किन्तु इस विविधता में सर्वत्र एकता है। संस्कृति के कुछ सूत्र सभी जगह अनुस्यूत हैं। ईश्वर के विषय में मान्यता, कर्मों का परिणाम मिलेगा ही अतः सत्कर्म करना, सत्कर्म का स्वरूप-त्याग, परोपकार, सत्य, न्याय आदि को मानना इस तरह के मानवीय आचार के आदर्श सभी जगह एक रूप में मिलते हैं। उत्सव, परम्परा का निर्वाह आदि भी सभी के एक तरह के हैं। इस तरह अनेकता में भी इस संस्कृति का वर्चस्व है। अनेक छोटे-छोटे राज्यों के होने पर भी इसी सांस्कृतिक एकता के कारण भारतीय शासन दूर-दूर तक, यहाँ तक कि विदेशों में भी था। हम सांस्कृतिक साम्राज्य के शासक थे। इसीलिए जगद्गुरु भी थे। संस्कृति कम से कम अपने देश में सुरक्षित रहे तो कभी पुनः इसका साम्राज्य हो सकता है।

यहाँ वेदों के प्रभाव से यज्ञ की भावना और इससे आदान प्रदान, परस्पर सहयोग, त्याग, क्षमा आदि को सामाजिक मूल्य माना जाता है। आचार व्यवहार में इसका प्रभाव पड़ता है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना में वैदिक साहित्य अतुलनीय है। मूल्यों का तारतम्य यहाँ तर्क व व्यवहार से प्रमाणित है। जीवन के उद्देश्य इसी से निर्धारित होते हैं, जिसके लिए स्व-धर्म का आश्रय लिया जाता है। यह सब भारतीय संस्कृति का लक्षण है।

सामाजिक व्यवस्था में इस संस्कृति के अन्तर्गत वर्णाश्रम व्यवस्था एक विशिष्टता है। यह विशिष्टता ही संस्कृत के मूल तत्व (DNA) की रक्षा करती है। इसमें कुछ व्यावहारिक असुविधा हो सकती है। वह दूर की जा सकती है। मूल तत्व की रक्षा आवश्यक है। जाति व्यवस्था भी वर्ण व्यवस्था का अंग है। इसमें जो विकृतियाँ दिखायी पड़ती है उन्हें दूर करने पर भी यह व्यवस्था स्वीकार करना लाभकर है। वर्ण-संकरत्व समाज के लिए घातक है। जाति व्यवस्था से वर्ण सांकर्य नियंत्रित रहता है। वर्तमान समय में ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध करते हुए संस्कृति का ही प्रतिरोध हो रहा है। ब्राह्मण शब्द तो श्रेष्ठता का वाचक है। विदेशों में भी इसी नाम से भारतीय संस्कृति जानी जाती है। इसका विरोध करना बुद्धि को तिलांजलि और समाज को शीर्षासन पर खड़ा करना है। यह विरोध बहुत देर तक नहीं रहेगा। संस्कृति तो मानवीय गुणों की योजनाबद्ध अभिव्यक्ति है। मानवीय गुणों को छोड़ने या उनका तिरस्कार करने पर समाज समस्याग्रस्त होता है तथा लौटकर पुनः उन्हीं गुणों को स्वीकार करना पड़ता है।

भारतीय समाज में सन्तों और संन्यासियों की परम्परा थी जो भ्रमण करके या आश्रम पर रहकर ही धर्मोपदेश द्वारा लोगों को सन्मार्ग पर रहना सिखाते थे। अब यह प्रथा लुप्त होती जा रही है। उनका स्थान पाखण्डियों ने ले लिया जिससे इस परम्परा पर विश्वास समाप्त हो रहा है। उद्योग-धन्धा करने वाले सम्पन्न या राजनैतिक विचारों से जुड़े हुए लोग सन्त होने की दौड़ में हैं। इनका एक दम तिरस्कार करने पर भारतीय संस्कृति की क्षति होने की संभावना है क्योंकि कहीं-कहीं सही अर्थ में साधु-चरित्र का व्यक्ति मिल सकता है। अतः तिरस्कार न करके इन पर विश्वास न करना ही सुरक्षित है।

पौराणिक साहित्य में दशावतार कथाओं का वर्णन है। अवतारवाद को मानने पर समाज में अव्यवस्था का भय, हमारे धर्माचार्य जानते थे। इस समय सभी प्रभावशाली साधक, तन्त्र-मंत्र वाले तथा पाखण्डी अपने को भगवान और अवतार कहने लगे हैं। साधकों को भी भगवान मानकर उनके नाम का मन्दिर बनवाना और धन संग्रह करना एक व्यवसाय सा हो गया है। इसे रोकने के लिए ही इस युग तक में दश ही अवतार बताये गये हैं। कल्कि अवतार से युगान्त होगा, ऐसा लिखा है। इस मान्यता से यह फायदा है कि अवतार दश से अधिक न माने जायं। इसे न मानने पर संस्कृति की क्षति हो रही है।

हमारे साहित्य में रामायण-महाभारत से लेकर कालिदास आदि संस्कृत के कवि, तुलसी, कबीर आदि भक्त कवि तथा वर्तमान युग के मैथिलीशरण गुप्त आदि ने इस संस्कृति को सुरक्षित रखा है। आज भी कुछ कवि और लेखक इस परम्परा का पोषण कर रहे हैं। प्रगतिवादी, आधुनिक और विश्वस्तरीय बनने के भ्रम में कुछ लोग विचलित भी हो रहे हैं। साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है। वर्तमान में कालजयी कृति कोई भी नहीं बन पा रहा जिसका कारण यह है कि हमारे कवि संस्कृति से विचलित होकर भारतीय नहीं रह गये हैं। जो संस्कृति के पोषक है वे कम से कम भारत में तो आदरणीय हैं।

धार्मिक आचरण, उत्सव, त्योहार, परम्परा, परस्पर व्यवहार, जीवन के मूल्य आदि संस्कृति को जानने के लक्षण बताये गये हैं। दार्शनिक आधार पर स्थित धर्म एवं मानव-मूल्यों के होने पर संस्कृति सुदृढ़ रहती है। इस दृष्टि से हमारी संस्कृति बहुत सम्पन्न है। यहाँ सभी सम्प्रदायों की नींव दार्शनिक चिन्तन पर है। अनेक सम्प्रदाय हैं किन्तु सबका सुदृढ़ दर्शन भी है।

भारतीय संस्कृति का वर्तमान स्वरूप कुछ अंश में विकृत है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। विकृत अंश को विवेकपूर्वक संस्कृत किया जा सकता है। इसकी जो बहुत बड़ी विशेषताएँ हैं, उन्हें भी विकृति मान लेने पर समस्या का निदान संभव नहीं है। पहले यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत के लिए यही संस्कृति अपनी है और यही अनुकूल रहेगी। इस मान्यता के साथ गुणों को लेकर अवगुणों का निराकरण किया जा सकता है। गुणों को ही अवगुण कहने वालों को इस संस्कृति का विरोधी मानकर

उन पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

यहाँ अमेरिकन, पाश्चात्य या अरबी संस्कृति के लोग भी आते जाते रहते हैं। वे हमारे आदर्श न बन जायँ बल्कि हम उनके ऊपर अपना प्रभाव दिखा सकें, यह हमारी सफलता होगी।

भारतीय समाज की संरचना में संयुक्त परिवार, वैवाहिक सम्बन्ध, संस्कारों की परम्परा, बड़े छोटे की श्रेणी और सम्बन्ध, भारतीय नारी का चरित्र, नारी का विशिष्ट स्थान, सार्वजनिक उत्सव तथा पर्व आदि विशेष पहचान रखते हैं। इन्हें यथावत रखने के लिए अब भी यहाँ के लगभग सभी लोग हृदय से इच्छुक रहते हैं। बदलाव से सबको भय लगने लगा है। केवल मनोरंजन तथा शान शौकत के आधुनिक तरीकों के गुलाम लोग ही इस संस्कृति से विचलित हो रहे हैं। वे भी वृद्धावस्था में इसी में लौटकर आते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में भी कार्य करने वाली स्त्रियां, वेश-भूषा तथा आचार से भारतीय होने का प्रदर्शन करती हैं। यह इस संस्कृति के, वर्तमान में भी, लोकप्रिय होने का साक्ष्य है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श–''सर्वे भवन्तु सुखिनः'', 'कृष्वन्तो विश्वमार्यम्', 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड्म्, त्यागाय संभृतार्थानाम्' (भोग नहीं दान के लिए धन संग्रह) आदि हैं। रामचरित मानस में लिखा है–''अरिहुंक अनभल कीन्ह न रामा।''–अर्थात् यहाँ पर कोई शत्रु नहीं है। यह संस्कृति में उदारता का परिचायक है। राम का चरित्र हमारी संस्कृति का आदर्श है। यहाँ रोगी को कड़वी देकर ठीक करना धर्म सम्मत माना जाता है। अतः दण्ड का भी विधान है। सबके लिए उपकारक यह भारतीय संस्कृति है। हमें ही नहीं विश्व के लिए यह हितकर है।

भाग-2

संस्कृति के विशेष लक्षण

विगत अध्याय में भारतीय संस्कृति के स्रोत और उसके सहस्रों वर्ष की बद्धमूलता तथा प्रासंगिकता का विवेचन किया गया। संस्कृति के विशेष लक्षणों का संक्षिप्त विवरण बिन्दुवार आगे दिया जा रहा है।

1. **वर्णाश्रम व्यवस्था**—भारतीय समाज में वैदिक काल से चार वर्णों की व्यवस्था है। गीता आदि ग्रन्थों ने भी इसकी वृहद् चर्चा है। चार वर्ण हैं–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। गुण कर्म और स्वभाव के कारण ये वर्ण निर्धारित किये गये हैं। वर्ण के निर्धारित रहने पर स्वधर्म का निर्धारण सहज रूप से हो जाता है। स्वधर्म पालन ही मुख्य धर्म है।

जीवन की सार्थकता के लिए आयु के अनुसार चार आश्रम की व्यवस्था थी। वे हैं–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम। आयु के बढ़ने पर शारीरिक क्षमता तथा स्वभाव में परिवर्तन होता है। चारों आश्रम इसी के अनुकूल बनाये गये हैं। विद्यालय से लेकर सांसारिक जीवन, उसके बाद तपस्या एवं मुक्तिमार्ग के लिए यह व्यवस्था ऋषियों ने इस संस्कृति को दिया। पिता-पुत्र में विवाद अब हो जाता है। आश्रम व्यवस्था के रहने पर कभी पिता के प्रति अश्रद्धा नहीं होती थी। आजकल वर्ण व्यवस्था नाममात्र के लिए है। इससे स्वधर्म के निर्धारण का सम्बन्ध नहीं रह गया है। अधिकतर लोग शूद्रवत आचरण और कार्य करते हैं, किन्तु सभी अपने को ब्राह्मण से कम नहीं मानते। ब्राह्मण दुर्लभ है। आश्रम व्यवस्था के नाम पर विद्यार्थी और गृहस्थ दो ही रूप दिखायी पड़ते हैं। वृद्धों के लिए आश्रम बन रहे हैं। अन्य तरह के जो आश्रम बने हैं वे गृहस्थ से अधिक प्रपंच में हैं। किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था का नाम किसी रूप में अब भी जीवित है।

2. **जाति व्यवस्था**—वर्ण व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवश्य है। आश्रम व्यवस्था भी मजबूरी में बन जा रही है। यह दोनों दूसरे रूप में विश्व भर में हैं। जाति व्यवस्था इस देश की एक अनोखी विशेषता है। लगभग तीन हजार जातियाँ इस देश में हैं। इनकी संख्या घट रही है। बढ़ने की प्रक्रिया अब बन्द हो गयी है।

वर्ण व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए तथा वर्णसंकरत्व से बचने के लिए यह पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था है। ऋषियों ने इसका प्रयोग करके अपनी संस्कृति से विश्व को आलोकित किया था। वर्तमान समय में जाति व्यवस्था एक समस्या हो रहा है। इससे होने वाले लाभ तो हो नहीं पा रहे हैं हानि बहुत हो रही है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के होने पर इस व्यवस्था का लाभ पुनः मिल सकता है। समाज से इसे हटाना असंभव है। राजकीय कार्यों में जाति को आधार मानना इस प्रथा का दुरुपयोग है। विशिष्ट व्यक्ति की उत्पत्ति के लिए तथा स्वधर्म निर्धारण हेतु जाति प्रथा का सदुपयोग हो सकता है।

3. स्वधर्म–भारतीय समाज का मेरुदण्ड स्वधर्म पालन ही है। अपने रास्ते (स्वधर्म) पर स्थिर रखने के लिए राजा होता था। राम-राज्य का लक्षण है–"निज-निज धर्म निरत श्रुति रीती।" पूरी गीता स्वधर्म को ही सर्वोपरि बताती है। इसी को आदर्श मानकर द्रोण एवं भीष्म का वध भी उचित मान लिया गया है। दूसरे के धर्म के पालन में भय होता है। इससे लोक मर्यादा का सन्तुलन बिगड़ता है। यह विषय अपने में ही एक पुस्तक के रूप में विवेचन के योग्य है। इसको संस्कृति का मुख्य लक्षण बताना ही उद्देश्य है।

4. वर्णसंकरत्व का निवारण–वर्ण-संकरत्व से सुरक्षित रखना इस संस्कृति की विशेषता है। शुद्ध वर्ण होने पर स्वधर्म के पालन में सुविधा तथा असीम उत्कर्ष की संभावना रहती है। जाति और व्यवसाय के मिश्रण से वर्णसंकरत्व होता है। इनके शुद्ध रहने पर वर्ण शुद्ध रहता है। अपनी जाति, स्वभाव तथा योग्यता के अनुसार कार्य करना ही शुद्धता कही जाती है। वर्ण संकरत्व को समाज में निन्दनीय माना जाता है।

5. नारी का सम्मान–इस समाज में नारी को गृहलक्ष्मी माना जाता है। मनु ने इसे पूज्य कहा है–"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" नारी के स्वभाव, उसकी सुकुमारता तथा शारीरिक स्थिति को देखते हुए उसे गृहणी का स्थान दिया गया है। घर की मालकिन नारी, बाहर का मालिक पुरुष होना संगत है। नारी को अपने रुचि के अनुसार क्षमता बढ़ाने तथा जीवन शैली रखने का अधिकार तो है किन्तु असुरक्षित अकेले चलने से रोका गया है जो हितकर है। पति, पिता या पुत्र कोई न कोई उसकी सुरक्षा में रहते थे। यह भी उसका सम्मान ही था।

6. स्त्रीधन का विधान—पति का धन स्त्री के लिए भी होता है किन्तु स्त्री के लिए विशेष रूप से दिया गया 'स्त्रीधन' केवल उसी के अधिकार में होता है। माता, पिता या ससुराल में मिला धन स्त्रीधन कहा जाता है। उसका बँटवारा नहीं होता है।

7. पुरुष प्रधान समाज—परिवार और कुल परम्परा, अपनी संस्कृति में, पुरुष के नाम से चलती है। भारतीय समाज पुरुष प्रधान रहा है, यह सर्वथा उचित था। क्योंकि शरीर तथा बुद्धि दोनों में पुरुष, बहुधा अधिक सक्षम होता है। अतः समाज से सम्बन्धित कार्य भार और अधिकार उसके पास होना स्वाभाविक है।

8. विवाह संस्कार—विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यह जीवन की विशेष घटना है क्योंकि सारा जीवन इसी पर निर्भर करता है। बड़ी सावधानी से कन्यादान या कन्याग्रहण किया जाता है। हमारे यहाँ तलाक या किसी प्रकार से वैवाहिक सम्बन्ध तोड़ना संभव नहीं था। एक बार ही कन्या दी जाती है। विवाह संस्कार का महत्व समाज में अब भी पूर्ववत् है। रति, संतान तथा धर्म इसके उद्देश्य हैं।

9. कन्यादान का महत्व—पिता के लिए कन्या ऐसी सम्पत्ति मानी जाती है जिससे धर्म की प्राप्ति होती है। कन्या दान का अधिकार माता-पिता को ही होता है। यह अब भी बहुत बड़ा दान माना जाता है। इस मान्यता के कारण समाज में कन्या का बड़ा महत्व है।

10. पतिव्रता की महिमा—पतिव्रता रहना तथा एक नारी व्रत सांसारिक जीवन को सुखी और विवाद रहित रखता है। यह महत्वपूर्ण मान्यता अब भी मान्य है। सतीत्व की बड़ी महिमा शास्त्रों में लिखी है। इसी गुण के कारण अयोग्य एवं कुरूप स्त्री भी परिवार में सम्मानित हो जाती है। इसके अभाव में सारे गुण व्यर्थ हो जाते है। पुरुष को भी एक नारी ब्रती रहना प्रशंसनीय माना जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, दूसरा विवाह न करने से आदर्श गृहस्थ तथा राजा माने गये। सतीत्व की रक्षा के लिए परिवार के साथ ही स्त्री स्वयं सचेष्ट रहती है। किसी अन्य या घर के भी पुरुष से एकान्त में बात न करना सुरक्षा का सबसे अच्छा उपाय माना जाता है। पुरुष और स्त्री दोनों को काम वासना की दृष्टि से पवित्र रहना जीवन की बड़ी भारी तपस्या मानी जाती है। ऐसे आदर्श युगल, समाज को धारण करने के लिए, संस्कृति को सम्बल प्रदान करते हैं।

11. **पुरुषार्थ**—जीवन के समस्त क्रिया कलाप धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन्हीं चार में से किसी एक या समस्त की प्राप्ति के लिए होते हैं। इन्हीं को पुरुषार्थ के रूप में जाना जाता है। काम समस्त प्राणियों के लिए प्रिय उद्देश्य है। अर्थ उसका सहायक है तथा अहंकार की पूर्ति के लिए स्वतः मूल्य भी है। ये दोनों सामान्य पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष विशिष्ट पुरुषार्थ माने जाते हैं। काम और अर्थ का नियंत्रक धर्म होता है। धर्म ही मोक्ष का भी साधन है। सामाजिक व्यवस्था के लिए भी धर्म ही साधन है। मोक्ष पुरुषार्थ बहुत विरले लोगों का उद्देश्य होता है। इस तरह धर्म ही पुरुषार्थों में सबसे महत्व पूर्ण है। हमारी संस्कृति में पुरुषार्थों का तारतम्य निर्धारित है।

12. **कर्म वाद**—भारतीय चिन्तन प्रणाली में कर्मवाद का सिद्धान्त बद्धमूल है। जैसा कर्म होगा वैसा ही फल मिलेगा। इस तरह कर्म ही भाग्य के रूप में परिणत होता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण के भेद से कर्म तीन भागों में माना जाता है। प्राणी के संचित कर्म अनन्त हैं। उनमें से जिस कर्म का फलोदय शुरू हो गया है उसे प्रारब्ध कहते हैं। वर्तमान समय में जो कर रहे हैं उसका फल तत्काल, इसी जन्म में या अगले जन्म में मिल सकता है। अतः पुरुषार्थ और भाग्य दोनों के मिश्रित परिणाम से जीवन में घटनाएँ घटित होती हैं। यह मान्यता जन मानस में व्याप्त है। शुद्ध भाग्यवाद हमारी संस्कृति में मान्य नहीं है।

13. **पुनर्जन्म**—कर्मवाद का सिद्धान्त पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर ही प्रमाणित होता है। कर्म के अनुसार फल भोगने के लिए पुनर्जन्म होता है। जाति, आयु और भोग यह तीनों कर्म के ही फल हैं। ऐसा समझने पर अच्छा काम करने और अगले जन्म को भी सुखी बनाने का प्रयास करने की प्रेरणा मिलती है। कर्मवाद और पुनर्जन्म की मान्यता से हमारा दार्शनिक और नैतिक चिन्तन पूर्ण होता है तथा सामाजिक व्यवस्था ठीक रहती है। यह बहुत महत्वपूर्ण है।

14. **यज्ञ**—यहाँ पर यज्ञों का बहुत महत्व हे। वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था का साधन यज्ञ ही होता था। आदान-प्रदान, सभी प्राणियों का कल्याण, देवताओं तथा प्रकृति के तत्वों का शुद्धीकरण, सभी यज्ञों से होते थे। आज भी यज्ञों के नाम पर क्रियायें प्रचलित हैं। सात्विक यज्ञों का अभाव होता जा रहा है। गीता में सात्विक यज्ञों के लिए अनेक

विधान बताये गये हैं। अब भी यज्ञों के द्वारा सांसारिक, लौकिक एवं पारमार्थिक सिद्धि सम्भव है।

15. दान—सभी धर्मों में दान का महत्व है। हमारे यहाँ ध्यान, यज्ञ, उपासना, तथा दान चार कर्मों को बहुत महत्व दिया गया है। यह चार धर्म के स्तम्भ हैं। कलियुग के लिए दान को सर्वोपरि धर्म माना गया है। मान्यता है कि अच्छी तरह (श्रद्धापूर्वक) सुपात्र को दिया हुआ दान संकट को तुरन्त काटता है। सामाजिक दृष्टि से भी दान का बहुत महत्व है।

16. परोपकार—माना जाता है कि श्रेष्ठ पुरुष परोपकार के लिए ही जीवन धारण करते हैं। महापुरुषों का जीवन इसका प्रमाण है। परोपकार मनुष्यत्व का लक्षण है और परम धर्म है–''परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' (महाभारत)। परोपकार की भावना होने पर सत्य, न्याय, सन्तोष आदि गुण स्वतः आ जाते हैं। व्यक्तित्व की महत्ता का यही मापदण्ड है। अपने लिए सभी जीते हैं, दूसरों के लिए जीना महानता है। हमारे यहाँ लोक-परलोक दोनों के लिए साधन परोपकार ही माना जाता है।

17. प्रायश्चित—अपने द्वारा किये गये पाप या अपराध को प्रकाशित करना तथा उसके लिए स्वयं को दण्डित करना प्रायश्चित कहा जाता है। यह हमारी संस्कृति की महत्वपूर्ण मान्यता है। भविष्य में निष्पाप रहने के लिए शास्त्र में प्रायश्चित का विधान बनाया गया है। जो अपने को स्वयं दण्डित नहीं कर लेता है उसे राजा या यमराज दण्ड देते हैं। पाप करके शीघ्र प्रायश्चित करने पर कम परिश्रम में उद्धार होता है। विलम्ब करने पर पाप बढ़ता जाता है। यमराज के सामने पहुचने पर ब्याज के साथ पाप का दण्ड भोगना पड़ता है। आत्मसंयम का यह एक अनोखा उपाय है।

18. पाप-पुण्य की भावना—समस्त व्यवहार में अच्छा या बुरा कर्म बताने में हमारे यहाँ पाप एवं पुण्य की दृष्टि होती है। पाप माने जाने पर बुरा और त्याज्य कहा जाता है। गर्भपात, झूठी गवाही, धोखा देना, चोरी आदि अनेक अपराधों को पाप की दृष्टि से देखा जाता था। दान, दया, दम आदि में पुण्य देखा जाता है। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक की गति मानी जाती है। पाप-पुण्य की दृष्टि होने से विवेक बुद्धि ठीक रहती है और आदमी अपने पर पूर्ण नियंत्रण करता है। वह अवैधानिक कार्य नहीं कर सकता है।

19. अतिथि सेवा—पुराने जमाने में यायावर सन्त और संन्यासी होते थे जो भिक्षाटन से जीवन यापन करके समाज को सन्मार्ग का पाठ पढ़ाते थे। ऐसे लोगों का आदर करना सबके लिए धर्म का कार्य है। अब भी सन्तों के प्रति श्रद्धा है। अतिथि के नाम पर वंचक पहले भी होते थे, अब अधिक हो गये हैं। अतः अतिथि सेवा में सतर्कता बरती जा रही है। भोजन के द्वारा सबका स्वागत करना, जाति न पूछना यह अतिथि सत्कार के लिए पर्याप्त है।

20. पंच महायज्ञ—ऋषि, देवता तथा पितर यह तीन अदृश्य रहकर हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। इनको प्रसन्न रखने के लिए ऋषि यज्ञ (स्वाध्याय), देव यज्ञ (हवन), पितृ यज्ञ (तर्पण) किया जाता है। इन तीनों के अलावा दृश्य रूप में समस्त प्राणियों के लिए भूतयज्ञ (अन्नदान) तथा अतिथि को परमात्मा का रूप मानकर उसका सत्कार अतिथि यज्ञ कहा जाता है। यह पाँचों यज्ञ गृहस्थ को नित्य करने पड़ते हैं। चींटी से लेकर देवता तक को तृप्त करने के लिए यह उदात्त विधान है। इससे भारतीय संस्कृति की अन्तर्दृष्टि का आकलन होता है। इसमें किसी का शोषण, अपमान या अन्याय का सन्देह नहीं हो सकता है। अतः मनुवादी व्यवस्था में श्रद्धा, तर्कसंगत है। जलवायु का शोधन व प्राणिमात्र की सेवा को प्रशंसनीय माना गया है। संस्कृति की ऐसी विशेषता विश्व में नहीं हे।

21. शास्त्रों का प्रामाण्य- धर्म के निर्णय तथा व्यवहार में शास्त्र ही प्रमाण माने जाते रहे हैं। ब्रिटिश काल तक याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका, रामायण महाभारत आदि को प्रमाण माना जाता है। समाज में अब भी यही मान्यता है। गीता में लिखा है–''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'' यानी कर्तव्य या अकर्तव्य का निर्णय करने में शास्त्र ही प्रमाण है। हमारी संस्कृति में समस्त व्यावहारिक एवं धार्मिक निर्णय शास्त्रों के आधार पर दिये जाते हैं।

22. संस्कार और श्राद्ध कार्य—जीवनकाल में संस्कारों के द्वारा बुद्धि और प्रतिभा का विकास किया जाता है। पहले सोलह संस्कार होते थे। सभी जातियों और कुल परम्परा में कुछ संस्कार अब भी होते हैं। विवाह संस्कार अब भी महत्वपूर्ण है। मृत्यु के बाद श्राद्ध कर्म भी एक संस्कार है। यह पुत्र के द्वारा पिता को अगले जन्म में सुखी रहने के लिए किया जाता है। पिता पुत्र के लिए कई संस्कार करता है, पुत्र माता-पिता के

लिए केवल एक संस्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही उसका पुत्रत्व है। हमारी संस्कृति में इसी के लिए पुत्र की कामना की जाती है।

23. सदाचार का महत्व—सभी सम्प्रदायों में प्रथम शिक्षा सदाचार की ही दी जाती है। व्यक्तिगत चरित्र से हीन व्यक्ति बहुत से गुणों और सामर्थ्य के होते हुए भी समाज में निन्दनीय होता है। जाति बहिष्कार, खान-पान से बहिष्कार आदि सामाजिक दण्ड की व्यवस्था पहले थी। यह प्रथा नैतिकता और सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए अब भी आवश्यक है।

सामाजिक दण्ड प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आधारित होते हैं तथा तत्काल निर्णय के कारण बहुत प्रभावी होते हैं। राजनैतिक हस्तक्षेप से इसे पुराने जमाने में दूर रखा जाता था। हमारी संस्कृति में सक्षम समाज का होना एक विशिष्टता थी।

24. वेश-भूषा/भाषा—वेशभूषा से व्यक्ति के देश तथा संस्कारों का ज्ञान होता है। धोती कुर्ता पुरुष के लिए तथा साड़ी भारतीय नारी के लिए शोभनीय माना जाता है। लोगों को प्रभावित करने तथा अपने को भारतीय संस्कृति का पोषक सिद्ध करने के लिए विदेशी संस्कृति से प्रभावित नारिया भी साड़ी पहनती है।। अपनी मर्यादा प्रमाणित करने के लिए वेश-भूषा तथा शिष्ट भाषा को पुराने समय से महत्व दिया जाता है। संस्कृत भाषा बोलने पर उच्च कोटि सा व्यक्तित्व साबित होता है।

24. पौरोहित्य-प्रथा—समाज में सभी व्यक्ति धर्म के विधानों को नहीं जानते हैं। इसके जानने के लिए तथा कर्म-काण्ड कराने के लिए भी पौरोहित्य प्रथा प्राचीनकाल से अब भी चल रही है। राम के पुरोहित वशिष्ठ थे। पाण्डवों ने भी अपना अलग अस्तित्व बनाने तथा अपनी सुरक्षा के लिए धौम्य को पुरोहित बनाया, इसके बाद अन्य कार्य आरम्भ किया। इस समय अच्छे पुरोहित दुर्लभ हो रहे है।। इसके लिए संस्कृत भाषा का प्रचार कारगर होता है।

यजमानी प्रथा एक विशेष व्यवस्था थी जिसमें गृहस्थ के लिए पुरोहित के अतिरिक्त नाई, धोबी, कहार, बढ़ई तथा अन्य कई तरह की जातियाँ सहयोगी होती थीं। एक व्यक्ति कई लोगों के यहाँ कार्य करके खुशहाल रहता था। इस प्रथा से सामाजिक संगठन बहुत मधुर रहा है। अब यह प्रथा थोड़े अंश में शेष रह गयी है।

26. प्रकृति के सानिध्य का जीवन—हमारी संस्कृति में प्रकृति के समस्त पदार्थ उपयोगी माने गये हैं। नदी, पहाड़, पेड़, पत्थल, धरती, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि को देवत्व प्रदान करके इनके लिए भी पूजा का विधान था। साँप, बिच्छू, जैसे जहरीले जानवर, कौआ आदि पक्षी, कुत्ता, बिल्ली आदि घरेलू जानवर भी गृहस्थ के घर में कुछ पाते जाते थे। ऋतु और महीनों का भी विशेष रूप से स्वागत किया गया है। प्रकृति के समीप रहकर स्वस्थ्य एवं सुखी रहना हमारी संस्कृति की पहचान है। हवन और यज्ञों द्वारा आकाश के शोधन की आवश्यकता अब सभी को महसूस हो रही हैं। हमारी संस्कृति में यह कार्य पहले से होता आ रहा है।

27. अनेकता में एकता—हमारी संस्कृति में अनेक देवताओं की पूजा उपासना करने की परम्परा रही है। प्रकृति के अंगों तथा श्रद्धानुसार कल्पित देवताओं की अनेकता होने पर भी समस्त संस्कृति में एकता का सूत्र है। ईश्वर एक है, यह सभी मानते हैं। अनेक रूप होने पर भी वह चैतन्य तत्व एक ही समझना बड़ी भारी सिद्धि है। इसका बीज हमारी संस्कृति में निहित है। एकत्व की पराकाष्ठा वहाँ हो जाती है जब भक्त और भगवान भी एक मान लिये जाते हैं। जीव ईश्वर ही है, भिन्न नहीं है, यह मान्यता हमारी संस्कृति में प्रचलित है। इस तरह स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक की उपासनाओं द्वारा अनेकत्व में एकत्व समझना इस संस्कृति की विशेषता है। इसीलिए अनेक तरह के उपासक तथा अनेक सम्प्रदायों को मानने वाले एक साथ रहते हैं। परस्पर सहयोग और संवाद भी बना रहता है। विदेशी प्रभावों को भी इस एकत्व की धारा में समाहित कर लेना हमारी संस्कृति की विशिष्ट क्षमता है।

28. उत्सव/त्योहार—देश के प्रत्येक भाग में पर्व एवं त्योहार, दीवाली, होली आदि उत्सव किसी न किसी रूप में एक साथ मनाये जाते हैं। यह उत्सव विदेशों में रहने वाले भारतीय अब भी मानते हैं। इससे भारतीय चिन्तन परम्परा तथा व्यवहार के आदर्शों का ज्ञान होता है। इन सबके पीछे सामाजिक मूल्यों के संरक्षण का सन्देश रहता है। नित्य ही कोई न कोई उत्सव त्यौहार सामने रहता है। इससे समाज की संजीवनी शक्ति बनी रहती है।

29. तीर्थव्रत—व्रत के विधान से शरीर की शुद्धि तथा मन का

संयमन भी होता है। तीर्थों में जाने से सात्विकता की भावना उत्पन्न होती है। यह व्यक्तिगत लाभ की बातें हैं। राष्ट्र के हित में भी इनका सहयोग है। तीर्थों के द्वारा समस्त देश एक सूत्र में बँधा हुआ है। हिमालय से समुद्र तक, पूर्व समुद्र से पश्चिम सीमा तक तीर्थों का विस्तार मिलता है। चार धाम की यात्रा करना एक आवश्यक धर्म माना जाता है। इससे विभिन्न लोगों से विचारों के आदान प्रदान का अवसर मिलता है तथा आत्मीयता का अनुभव होता है। छोटे-छोटे राज्यों में बंटे होने पर भी, तीर्थाटन की परम्परा से संस्कृति का एकक्षत्र राज्य देश भर में था। देश की एकता में तीर्थ सहायक हैं। कुम्भ स्नान के लिए एकत्रित होने वाली भीड़ विश्व में सर्वोपरि मानी जाती है। यह भावनात्मक एकता का प्रतीक है।

गया श्राद्ध एक विशिष्ट क्रिया है जिसके लिए सभी हिन्दू गया तीर्थ करने जाते हैं। जीवन में गया श्राद्ध तथा गंगा सागर स्नान आवश्यक धर्म माना जाता है। संस्कृति की प्रमुख बातों में इन आयोजनों का धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व है।

30. धर्मानुकूल कार्य करने की बाध्यता—हमारी संस्कृति में धर्म को सुरक्षित रखना तथा उसके अनुसार ही आचरण करने की बाध्यता है। रामायण, महाभारत काल से लेकर आज तक धर्म की रक्षा हेतु तथा धर्म के अनुसार कार्य करने की अनिवार्यता स्पष्ट है। ऐसा न करना निन्दनीय माना जाता है। कौरव तथा पाण्डव दोनों अपने को धर्म पर आरूढ़ सिद्ध करने में लगे रहे। इसीलिए युद्ध को भी धर्मयुद्ध कहा जाता था। आज भी धर्म के नाम पर ही पाखण्ड हो रहा है। सभी लोग अपने को धर्मसम्मत सिद्ध करने में लगे हैं। इस स्थिति को सुधारने पर संस्कृति की गरिमा बनी रहेगी। सामाजिक दण्ड के दुर्बल होने और राजकीय दण्ड के निष्प्रभावी होने के कारण धर्म का दोहन करने वाले लोग तात्कालिक लाभ ले रहे है।। इन्हें नियंत्रित करने पर संस्कृति का पुनरुत्थान संभव है। धर्म का महत्व संस्कृति में रहा है तथा अब भी धर्म ही संस्कृति के सुरक्षा का मुख्य कारक है।

31. मूल्यों का तारतम्य—भारतीय संस्कृति में मानव के लिए आवश्यक मूल्यों का तारतम्य निर्धारित है। सामाजिक संरचना भी मूल्यों की उपासना के अनुसार बनती है। बौद्धिक कार्य, चिन्तन, लेखन, अन्वेषण, सामाजिक चेतना का जागरण आदि ऊचे कार्य हैं, जो व्यक्ति के विकास

और मानवता की रक्षा के लिए आवश्यक है। इनके होने पर ही अन्य तरह का विकास उपयोगी होता है। अतः ऐसे कार्यों को सर्वोपरि मान्यता दी जाती थी। सुरक्षा तथा धर्म की रक्षा का महत्व समझते हुए इसे द्वितीय वरीयता दी जाती थी। धन सम्पत्ति, विज्ञान का उपयोग आदि तरह के कार्य भी आवश्यक हैं। यह तृतीय श्रेणी में रखे गये हैं। इसके बाद हाथपैर से साध्य काम, मनोरंजन, विविध कार्य कुशलता आदि को भी महत्व दिया गया है। अपनी जगह सबका महत्व है किन्तु वरीयता के क्रम का सम्मान करना आवश्यक है। इससे विचलन होने पर कोई भी सम्माननीय नहीं रहेगा।

सबको बराबर मान लेने पर चाहे जिसे सर्वोपरि सम्मान दिया जाता है किन्तु यह सामाजिक संगठन को बिगाड़ने वाला निर्णय है। विदेश की नकल न करके अपनी संस्कृति से प्रेरणा लेना अब भी लाभकर है।

32. पद –प्रतिष्ठा का आधार–ऊपर के बिन्दु में कही गई बात को दृढ़ करने के लिए योग्यता का महत्व स्थापित करना आवश्यक है। चाहे जिस विषय का व्यक्ति हो अन्य क्षेत्र में योग्य होने पर, अच्छा प्रशासक भी होगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए। हमारी संस्कृति में निर्धारित तारतम्य के अनुसार तथा योग्यता के क्रम में सर्वोपरि होने पर ही उच्चतम पद या प्रतिष्ठा देने का विधान है। धन या बाहुबल को योग्यता का आधार मानना अनर्थ है। आवश्यकता के अनुरूप योग्यता महत्वपूर्ण है। शत्रुओं की संख्या बढ़ने पर सुरक्षा का सबसे बड़ा उपाय योग्यता को बढाना है।

योग्यता ही सभी पद-प्रतिष्ठा का मूल है। बिना योग्यता के सेनापति बनने वाला व्यक्ति शत्रु तथा मित्र दोनों द्वारा मारा जाता है। अतः संस्कृति की रक्षा के लिए योग्यता बढ़ाना, उसकी उपयोगिता बढ़ाना तथा उसका आदर करना आवश्यक माना गया है।

33. संयुक्त परिवार–संयुक्त परिवार की व्यवस्था संस्कृति की रक्षा के लिए बड़ी उपयोगी है। पुरुष प्रधान परिवार में माता-पिता के साथ ही दादा-दादी, चाचा-चाची आदि के साथ रहने पर कुल परम्परा व्यवस्थित रहती है। इससे वर्ण संकरत्व का भय नहीं रहता है तथा वृद्धों की सेवा सम्भव हो पाती है। वृद्धों के साथ रहने पर उनके ज्ञान का लाभ नीचे की पीढ़ी को सुलभ होता है। माता-पिता के जीवन काल तक संयुक्त परिवार रखना बड़ा उपयोगी रहा है।

34. गुरुकुल परम्परा से शिक्षा–हमारे यहाँ राजकुमार से लेकर सामान्य व्यक्ति (कृष्ण-सुदामा) एक साथ गुरुकुल में पढ़ते थे। वहाँ से सदाचार की शिक्षा तथा विद्याओं को प्राप्त करने पर स्नातक सम्माननीय होता था। आज भी गुरुकुल परम्परा की शिक्षा, कुछ परिवारों में दी जा रही है। प्राथमिक शिक्षा गुरुकुल में होने के बाद ही, योग्यतानुसार, उच्च शिक्षा हेतु विद्यार्थी को बाहर भेजा जाय तो सदाचार की नींव बनी रहेगी। अनौपचारिक रूप से प्राथमिक शिक्षा ही पुराने जमाने में उच्चतम उपाधि भी प्रदान कराने में समर्थ होती थी। राजा द्वारा गुरुकुलों का संरक्षण होता था तथा उन गुरुकुलों से पैदा हुए स्नातक राज्य के लिए अमूल्य रत्न होते थे। आज भी, आवश्यक व्यवस्था के साथ गुरुकुल परम्परा की शिक्षा लाभकर हो सकती है।

हमारी संस्कृति इतनी व्यापक है कि विस्तारपूर्वक समस्त लक्षणों को गिनाना कठिन है। गंगा, गाय, गीता, रामायण, धर्मशास्त्र एवं संस्कृत भाषा आदि सबका महत्व है। कुलदेवता, ग्राम देवता तथा परम्परा से प्राप्त उपासना भी आदरणीय है। नदी पहाड़, वनस्पति, गाँव और देश की सीमा, जलवायु आदि सभी हमारी संस्कृति में रक्षणीय हैं। इतने व्यापक और प्राचीन संस्कृति के विषय में, यह परिचय अति संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

भाग-3

संविधान की पृष्ठभूमि एवं प्रासंगिक अंश

संस्कृति के कुछ महत्वपूर्ण पक्षों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इनका संरक्षण लोक शक्ति के द्वारा होगा। लोक को सशक्त रखने का दायित्व शासन का है। राजनीति से रहित लोकनीति की स्थापना के लिए अनुकूल संविधान आवश्यक है। इसी आधार पर उन नियमों का भी प्रवर्तन होगा। अतः संविधान के कुछ ऐसे अंशों का अध्ययन किया जाएगा। जिनमें संशोधन से संस्कृति के साथ समन्वय हो सकेगा। संस्कृति के प्रत्येक बिन्दु कुछ न कुछ विकार ग्रस्त हो चुके हैं। इनका संशोधन भी करते हुए समन्वय बनाना अभीष्ट है।

सामाजिक संस्थाओं का नियंत्रण राजकीय तंत्र से होने के कारण जन मानस में राजनीति की कुटिलता व्याप्त हो रही है। संविधान द्वारा सामाजिक संस्थाओं को राजनीति से मुक्त किया जाय। राष्ट्रीय हित में ये बाधक होने, हानिकर रूढ़ि से ग्रसित होने या कोई अन्य, विशेष तर्कसंगत बारण के होने पर शुद्धीकरण हो अन्यथा सामाजिक संस्थाओं को स्वतंत्र रखना उचित है। कहीं कहीं आंशिक रूप से स्वतंत्रता देना संभव है। सांस्कृतिक विरासत से पर्याप्त नियम उपलब्ध होने पर भी उन विषयों में कानून लादने का प्रयास न किया जाय। बने हुए कानून वापस लिये जा सकते हैं। संस्कृत भाषा और शास्त्रों का सम्मान सुरक्षित रखने के लिए सबल नियम बनाये जायं। किसी ग्रन्थ को जलाने या फाड़ने वाले को दण्डित किया जाना परम आवश्यक है। शादी विवाह, खान-पान, सामाजिक सम्बन्ध, पारिवारिक व्यवस्था, प्राथमिक शिक्षा आदि के लिए हमारे पास पर्याप्त नियामक नियम हैं। विशेष कारण न होने पर इन्हें शास्त्रों और समाज के अधीन ही रहने दिया जाय। विकास और परिवर्तन की अन्धी दौड़ से बचने तथा बाहरी प्रभाव से समाज को सुरक्षित रहने दिया जाय। राज्य के क्रिया-कलाप में राष्ट्रीय अस्मिता के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व को भी स्थान दिया जाय। व्यवस्था पूर्ण भारतीय बनी रहे इसके लिए उपाय सोचने का कार्य प्रबुद्ध धर्म शास्त्री, समाजशास्त्री, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, संविधान और न्यायविद

लोगों को दिया जाय। विदेशी संस्कृति से प्रभावित या जाति-धर्म की भावना से पूर्वाग्रह ग्रस्त लोगों को इस कार्य से दूर रक्खा जाय। इस कार्य को पूर्णता देने वाले लोगों को प्रेरणा देने के लिए एक प्राथमिक प्रयास प्रस्तुत है।

प्राचीन काल में राजतंत्र का शासन था। राजा स्वयं लोक का सम्मान करता था। कहीं-कहीं राजतंत्र में भी लोकतंत्र की व्यवस्था देखी जाती थी। उस समय संस्कृति, शास्त्र और परम्पराओं का ही शासन था। स्मृतियों के नियमों का प्रवर्तन राजा करता था। रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों की भी मान्यता थी। राजधर्म के लिए शास्त्र थे। शान्ति पर्व, अर्थशास्त्र, कामन्दक नीति आदि राजनैतिक शिक्षण के स्रोत थे। प्रशासन के लिए पर्याप्त व्यवस्था हमारी संस्कृति में थी।

राजनीति एवं स्मृतियों की व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन पहले भी होते रहे हैं। दिनों दिन परिवर्तन की गति तीव्र हो रही है। एक सहस्र वर्षों तक बाह्य प्रभाव एवं दासता के कारण हमारी संस्कृति कुंठित हो गयी है। समयानुसार परिवर्तन राजनैतिक पक्ष में ही होते रहे हैं। मुगल एवं ब्रिटिश काल में भी परिवर्तनों से हमारा सामाजिक पक्ष लगभग सुरक्षित रह गया। मुगलों ने सांस्कृतिक पक्ष में छेड़खानी करनी चाही किन्तु समाज परम्परा से चिपका रह गया। अंग्रेजों ने हमारी संस्कृति को बदलने का प्रच्छन्न प्रयास किया। उनके प्रभाव से कुछ पढ़े लिखे लोग पाश्चात्य संस्कृति में चले गये किन्तु समाज यथावत बना रहा।

ब्रिटिश काल में वैज्ञानिक प्रभाव तथा विदेशों की भौतिकतावादी संस्कृति से हमारे शासन प्रणाली में विशेष परिवर्तन हुए। परिस्थितियों के बदलने से छोटे-छोटे राज्यों की जगह विशाल देश का दृश्य सामने आ गया। संघात्मक शासन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, सीमा सुरक्षा, नागरिकता, जनसंख्या की समस्या आदि नई बातों के होने पर नयी शासन प्रणाली अनिवार्य हो गयी। लोकतंत्रात्मक शासन की व्यवस्था विश्वभर में होने लगी। अपने देश में भी यही अभीष्ट है। स्थानीय विशेषता के कारण हमारे यहाँ भारतीय लोकतंत्र की आवश्यकता है। विदेशी ढंग का लोकतंत्र यहाँ अनुकूल नहीं रहेगा। खेद है कि हमारे संविधान के निर्माण में इस बात का ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय संस्कृति की अमूल्य सम्पदा का आदर न करना हमारी भूल कही जायेगी।

भारतीय संविधान को बनाने के लिए संविधान सभा का गठन यहाँ की जनता द्वारा होना चाहिए था। किन्तु ब्रिटिश संसद में ही नवम्बर, 1946 में संविधान निर्मात्री सभा का गठन कर दिया। इसमें मुस्लिम लीग के तिहत्तर सदस्य भी थे जो बाद में अलग हो गये। स्वतंत्रता के बाद इस सभा पर कैबिनेट मिशन द्वारा लगाये गये ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त हो गये। स्वतंत्रता के कुछ पहले से और बाद तक देश में कई तरह के उथल-पुथल चल रहे थे, जिनमें हमारे देश के प्रमुख नेता उलझे रहते थे। ड्राफ्टिंग कमेटी अन्य बातों पर ध्यान न देकर, संविधान निर्माण में लगी रही। प्रबुद्ध सदस्यों के महत्वपूर्ण कार्यों में उलझे रहने के कारण उनके विचार पूर्ण रूप से न मिल पाने पर भी दो वर्ष ग्यारह मास अठारह दिन (1946 से नवम्बर, 1949) के बीच में संविधान निर्माण का कार्य पूरा कर दिया गया। गुलाम भारत, स्वतंत्र भारत दोनों के सन्धि काल में संविधान बना है। पराधीनता के कारण भावी समस्याओं का समावेश इसमें स्पष्ट है।

वर्तमान संविधान को बनाने में मुख्य रूप से भारत सरकार अधिनियम, 1935 को आधार माना गया है। अंग्रेजों द्वारा बनाया गया यह अधिनियम नये संविधान के बनने तक लागू रहा। नये संविधान में पुराने 1935 के अधिनियम के अलावा अमेरिका, ब्रिटेन, आयरलैण्ड और जर्मनी के संविधानों से सहायता ली गयी है। इसकी संघीय व्यवस्था महत्वपूर्ण है। सरदार पटेल ने देश की अखण्डता को सुदृढ़ करके बहुत बड़े संकट से बचाया था।

संविधान के बन जाने पर देश के शासन के संचालन के लिए आधार उपलब्ध हो गया है। इस संविधान को बनाने में जो कमी रह गयी वह अब स्पष्ट हो रही है। संविधान में संशोधन का प्राविधान है, अतः अपूरणीय क्षति की संभावना नहीं है।

भारत का विभाजन धर्म के आधार पर हुआ था। कट्टर मुसलमान पाकिस्तान चले गये। भारतीय संस्कृति और देश से लगाव रखने वाले मुसलमान यहां रह गये। वे पूर्ण भारतीय थे। राजनीतिक कारणों से उन्हें भेद-भाव की दृष्टि से देखना देश-द्रोह है। उन्हें भी भारतीय संस्कृति का अंग समझ कर विचार करने पर इस देश को बहु-सास्कृतिक समाज मानना आवश्यक नहीं रह गया। यहा के हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, बौद्ध, सभी भारतीय संस्कृति के अंग हैं। इसाई , पारसी आदि जैसे धर्मों के लोग

भी यहीं के हो गये हैं। वे यहाँ है किन्तु उनके कारण बहुसांस्कृतिक समाज मानना इस देश के लिए समस्या उपस्थित करना है। इतना सम्मिश्रण विश्व के सभी देशों में है। अतः अपने देश के मूल सांस्कृतिक तत्वों का समावेश संविधान में होना चाहिए था। यह कार्य अब भी हो सकता है। इस दृष्टि से, संविधान में संशोधन के लिए कुछ सुझाव बिन्दुवार दिये जा रहे हैं–

1. प्रथमतः संविधान की उद्देशिता (Preamble) में संशोधन अपेक्षित है। उद्देश्यिका में न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व चार प्रकार के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रवर्तन की प्रतिज्ञा है। यह चारों संविधान के मूल स्तम्भ हैं। राज्य के लिए मौलिक कर्तव्य यही चारों हैं, जिनका विस्तार समस्त संविधान में है। संविधान का तात्पर्य निकालने में इस उद्देश्यिका का बड़ा महत्व है। इस बात पर ध्यान देते हुए सांस्कृतिक पक्ष की सुरक्षा हेतु संकल्प उद्देश्यिका में होना चाहिए। इसके लिए चतुर्थ बिन्दु बन्धुता में राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के बाद ''सांस्कृतिक सम्पदा की सुरक्षा'' जोड़ दिया जाय। इस तरह चतुर्थ उद्देश्य का रूप निम्नलिखित हो जाएगा–

बन्धुता–''व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के साथ सांस्कृतिक सम्पदा की सुरक्षा के लिए ...।'' इतना प्राविधान होने पर तथा तदनुसार कानून और न्यायालय के आदेश होने पर भारतीय सांस्कृति की गरिमा को स्थान मिलेगा। इससे समाज और देश में व्याप्त हो रहे विदेशी प्रभाव, गुलामी की मानसिकता, भारतीय मूल्यों की अवहेलना और स्वाभिमान की उपेक्षा आदि पर नियंत्रण हो जाएगा।

वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था को प्रतिष्ठित करना अब व्यावहारिक नहीं रह गया है। वर्ण व्यवस्था का स्वाभाविक अंश किसी न किसी रूप में अब भी है तथा रहेगा। जाति व्यवस्था मनुष्य द्वारा बनाई गई है। इससे लाभ बहुत था किन्तु अब हानि अधिक दिखाई पड़ती है। अतः शासन स्तर पर जाति की मान्यता पूर्ण रूपेण समाप्त करना उचित है। आरक्षण आदि असमानताओं के प्रभाव जाति के आधार पर हैं। जाति की मान्यता समाप्त करने पर आरक्षण भी समाप्त हो जाएगा। अब जाति प्रथा के स्थान पर जातिवाद की स्थापना हो रही है जो देश की अखण्डता आदि संविधान के संकल्पों के अनुकूल नहीं है। नियंत्रण न करने पर जाति की सेना और जाति के संगठन सहस्त्रों की संख्या में हो जाएंगे। इस भयावह स्थिति को

रोकने के लिए जातिवाद पर रोक लगाना पड़ेगा। आवश्यकतानुसार इस विषय का और तार्किक ढंग से विचार किया जा सकता है।

जाति प्रथा तथा वर्णाश्रम व्यवस्था से विशेष लाभ यह था कि वर्णसंकरत्व के रुक जाने से व्यक्ति की उन्नति की संभावना असीम हो जाती थी। इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण हमारे इतिहास में सहस्त्रों महापुरुष (विचारक, ऋषि, तपस्वी, राजा, योद्धा आदि) पैदा हुए। इस व्यवस्था के समाप्त होने पर इसके अन्दर निहित अच्छी बातों को ग्रहण करना उपादेय है। योग्यता की वृद्धि और इसका सम्मान जो पुरानी व्यवस्था में था वह अब भी आदरणीय है। जगतगुरु बनाने वाली योग्यता को प्राप्त करने के लिए पृष्टभूमि सुरक्षित रखना आवश्यक है। ऐसा करने पर संविधान एवं कानूनों में विहित बहुत से प्राविधान प्रभावित होंगे। उनके प्रभावित होने पर लाभ-हानि का आकलन करके समता, संस्कृति और न्याय को वरीयता के साथ संशोधन पर विचार किया जा सकता है। उद्देश्यिका में निहित संकल्पों से विचलित होना उचित नहीं है। सन्देहास्पद कारणों से किसी निश्चय को नहीं बदला जाता है। वर्तमान व्यवस्था का दुष्परिणाम देखते हुए आवश्यक है कि व्यक्ति की गरिमा और उसकी योग्यता को किसी तरह से विधान द्वारा कुंठित न किया जाय। योग्यता ही आदर, पद, प्रतिष्ठा, आदि सबका आधार मानी जाय। यह हमारी संस्कृति का अवदान है तथा तर्क और व्यवहार से भी सिद्ध है। अतः संस्कृति की रक्षा हमारे संविधान की उद्देश्यिका में रखना श्रेयस्कर है।

2. **मूलाधिकार–**मनुष्य ने सामाजिक व्यवस्था के लिए सर्वसत्ता सम्पन्न राजाको स्थापित किया था। समाज के प्रति राजा का भी कर्तव्य निर्धारित होता है, अन्यथा राजा निरंकुश हो जायेगा। भारतीय संस्कृति में राजतिलक के प्रकरण में उल्लेख है कि राजा राजतिलक के बाद कहता है– अदण्डोऽहम अर्थात् मेरे ऊपर किसी का शासन नहीं है। इस समय का राजा पुरोहित उसे कहता है–धर्मदण्डोऽसि। अर्थात् तुम्हारे ऊपर भी धर्म का शासन होगा। राजा के ऊपर धर्म का शासन होना परम्परा से मान्य था।

धर्म का अर्थ है समाज में शान्ति व्यवस्था के साथ अनन्त उत्कर्ष का साधन। नागरिकों को अधिकार होता था कि वे राजा से न्याय प्राप्त कर सकें। यह अधिकार ही मौलिक अधिकार है जिसे वर्तमान रूप में देखा जाता है। इसका प्रभाव धर्म और न्याय की प्रतिष्ठा है।

तेरहवीं सदी में इंग्लैण्ड में नागरिकों के अधिकार के लिए मैग्नाकार्टा अधिकार पत्र बनाया गया था। बाद में, सत्रहवीं शदी में अधिकार का कानून (Bill of Rights) पास किया गया। फ्रांस में अठारहवीं शदी में 'मानव एवं नागरिकों' के अधिकार का घोषणा पत्र बना पाश्चात्य देशों में बहुत देर से, संघर्ष के बाद यह अधिकार प्राप्त हुए हैं। भारतीय राजधर्म में सहस्रों वर्ष पूर्व धर्म ग्रन्थ के रूप में मौलिक अधिकार प्राप्त थे।

भारतीय संविधान में मूलाधिकारों का प्राविधान परम्परा के पोषण में सहायक है। यहाँ पर इन अधिकारों के सार्वजनिक उपयोग हेतु न्यायपूर्ण ढंग से सुरक्षित रखने की व्यवस्था आवश्यक है। शासन सत्ता अपनी शक्ति का उपयोग नागरिकों के शोषण में न करे तथा आपसी व्यवहार में समानता के साथ न्याय की प्राप्ति करने के लिए मूलाधिकार हैं।

मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में वर्ष 1979 में न्यायाधिपति श्री भगवती ने महत्वपूर्ण बात कही है–''मूल अधिकार इस देश की जनता द्वारा वैदिक काल से संजोए गए आधारभूत मूल्यें का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे व्यक्ति की गरिमा का संरक्षण करने और ऐसी दशाएं बनाने के लिए परिकल्पित हैं जिनमें हर एक मानव अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। वे मानव अधिकारों के आधारभूत ढाँचे पर गारन्टी का तानाबाना बुनते हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर, इसके विभिन्न आयामों में अतिक्रमण न करने की, राज्य पर नकारात्मक बाध्यता अधिरोपित करते हैं।'' इस पैरा में वैदिक काल से संजोए गये आधारभूत मूल्य–यह शब्दावली बड़ी महत्वपूर्ण है। मौलिक अधिकारों में हमारी वैदिक संस्कृति की झलक ही नहीं बल्कि उसका वर्चस्व प्रकट होना आवश्यक माना जाय। इस दृष्टि से मूलाधिकारों का अध्ययन, संशोधन एवं प्रवर्तन करने की दिशा में प्रयास आवश्यक है। समाज के व्यवस्थित रहने पर ही मूलाधिकारों का संरक्षण संभव है। अत; मूलाधिकार और सामाजिक व्यवस्था दोनों का संतुलन बनाना राज्य का काम है। कोई भी अधिकार निरंकुश नहीं हो सकता है। सामाजिक हित में अधिकारों की सीमा निर्धारित की जाती है।

मानवाधिकार संविधान की व्यवस्था के द्वारा नहीं लागू किया जाता है। (UNO) यू.एन.ओ के द्वारा प्रवर्तित इन अधिकारों को भी विश्व में आदर दिया जाने लगा है। न्यायालय भी इन्हें वरीयता देता है। किन्तु देश और

समाज की स्थिति के अनुसार, मूलाधिकारों की रक्षा हेतु, मानवाधिकारों को लागू करने में राज्य को सतर्क रहना पड़ता है। मानवाधिकारों में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव अधिक है जिससे अपनी सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखना पड़ेगा।

मूलाधिकारों का प्राविधान संविधान में सबसे महत्वपूर्ण है। सारी व्यवस्था इसी के लिए है। उद्देश्यिका से ही स्पष्ट है कि इन्हीं अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संविधान बना है। यह अध्याय सर्वोपरि महत्व का है। इसमें भी समानता व स्वतंत्रता के अधिकार समाज एवं राष्ट्र के लिए संजीवनी शक्ति है। अपने संविधान में इन अधिकारों की स्थिति वैसी नहीं रह गयी है जितनी कि बाहर से आकर्षक लगती है। आगे के नियमों और संविधान के संशोधन द्वारा इन अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। वैदिक परम्परा का स्मरण करने पर समता और स्वतंत्रता के अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपाय आवश्यक है।

मूलाधिकारों का एक लम्बा इतिहास है जिसको संक्षेप में लिखना यहाँ आवश्यक है। संविधान में मूलाधिकारों को तत्काल नहीं खोजा गया। हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई इन्हीं अधिकारों के लिए लड़ी गई थी। कांग्रेस पार्टी की माँग यही थी कि जो स्वतंत्रता, सम्मान तथा अवसर के नियम हैं वे अंग्रेजों तथा हिन्दुस्तानियों के लिए समान होने चाहिए। समानता की माँग ही आगे पूर्ण स्वतंत्रता की माँग में परिवर्तित हो गयी। स्वतंत्रता के पहले भी मौलिक अधिकारों पर चिन्तन व लेखन किये गये है। वर्ष 1928 में भारत के लिए संविधान के सिद्धान्त बनाने के लिए बनी कमेटी की रिपोर्ट में भी समानता की बात उठाई गई। 1945 में सप्रू कमेटी ने मूलाधिकारों के विषय में प्राविधान दिया है–

"The Committee Demands and expects perfect equality between one section of the community and another in the matter of political and civil rights, equality of liberty and security in the enjoyment of the freedom of religion, worship and persuit of the ordinary applications of life."

जिस समता के अधिकार के लिए हम लड़ते रहे तथा जिसे स्वतंत्रता का मापदण्ड घोषित किया गया था, वह हमारे संविधान में दी गयी किन्तु उसके तुरन्त बाद आरक्षण और संरक्षण के प्राविधानों द्वारा दिये हुए अधिकारों को जातिवाद के आधार पर बाधित कर दिया गया। इन्हीं भेद-

भाव करने वाले प्राविधानों की सुरक्षा में संविधान में संशोधन भी होते रहे हैं। इन प्राविधानों की सुरक्षा के लिए ही बहुत बड़ा संविधान बनाया गया है। समानता के अधिकार के अपवादों और उनके संरक्षण के लिए जितना कार्य संसद और न्यायालय में हुआ हैं उतना और किसी विषय के लिए नहीं हुआ है। न्यायालय के द्वारा असंगत घोषित करने पर अध्यादेश और संशोधन द्वारा आरक्षण के प्राविधानों को बचाने के प्रयास में समता का अधिकार एक वर्ग के लिए बेमानी हो रहा है। इसका बुरा परिणाम देखते हुए हमारे जननायकों को सदाशयता का पालन करना चाहिए। वोट, तुष्टीकरण के लिए, जाति, धर्म आदि के आधार पर कार्यवाही उचित नहीं है। राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वाभिमान तथा सामाजिक समरसता आदि को महत्वहीन समझना अनुचित है। जातीय सेनाएँ देश के लिए घातक हैं जो आजकल अनेक संगठनों के रूप में प्रबल होती जा रही हैं। लोग अन्याय के कारण, धरना प्रदर्शन और आतंक के रास्ते पर चलने के लिए मजबूर होते हैं। इस समस्या की जड़ को समाप्त कर देना बहुत आवश्यक हो गया है। सब तरह का आरक्षण और संरक्षण बन्द करके गरीबों की उन्नति के लिए शिक्षा और रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिए। योग्यता की रक्षा हर कीमत पर होनी चाहिए। विधानसभा संसद आदि में प्रतिनिधित्व के लिए अतिरिक्त पद बनाकर कुछ वर्गों को प्रवेश दिया जा सकता है। जाति-धर्म आदि की मान्यता यथा संभव सीमित किया जाय। सामाजिक समरसता के लिए यही उपाय है।

संक्षेप में यह मानना महत्वपूर्ण है कि समता का अधिकार सर्वोपरि है जिसके बिना सभी अधिकार विवादास्पद और व्यर्थ है। इसी अधिकार के लिए स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गयी थी जिसमें प्रतिबन्ध और अपवाद जोड़ना आपत्तिजनक है। युक्तियुक्तता के साथ भेद-भाव का निराकरण समता के अधिकार का आवश्यक अंग है।

संविधान के अनुच्छेद 14 में समता का अधिकार है। इसमें समान अवसर तथा समान वैधानिक संरक्षण का अधिकार दिया गया है। यह अनुच्छेद अपने में पूर्ण है तथा समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक होने की आशा जागृत करता है।

अनुच्छेद 14 में जो स्वर्णिम आशा जागृत होती है वह आगे के अनुच्छेदों से धूमिल होने लगी है। अनुच्छेद 15(3) में समता के अधिकार

का अपवाद प्रथम बार दिया गया है। इसमें स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबन्ध तथा संरक्षण की बात लिखी गयी है। इसी के आधार पर आई.पी.सी. की धारा 497 में जारकर्म (Adultery) के अपराध में पुरुष दण्डनीय किन्तु स्त्री के लिए कोई दण्ड नहीं, देना विधि सम्मत माना गया।

अनुच्छेद 15(4) भी सामान्य नियम का अपवाद है। न्यायालय द्वारा विपरीत आदेश होने पर संविधान में संशोधन किया गया है। संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा अनुच्छेद 15(4) के अन्तर्गत राज्य को अधिकार दिया गया है कि शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों की उन्नति के लिए विशेष नियम द्वारा असमानता की जा सकती है। मध्य प्रदेश राज्य बनाम निवेदिता जैन के मामले में 1981 में निर्णय दिया गया कि मेडिकल कालेजों के प्रवेश में अनुसूचित जाति और जनजाति के अभ्यर्थियों को अर्हता अंक की शर्त नहीं रहेगी। इस तरह अनुच्छेद 15 से ही समता के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ हो गया।योग्यता के महत्व का अनादर भी होने लगा। वास्तव में देखा जाय तो अपवाद और विवाद को पैदा करने वाले अंशों को हटाने पर अनुच्छेद 15 भी अनुच्छेद 14 में ही समाहित हो सकता है। संतिवधान में अपवादों के कारण ही इसका आकार बड़ा हो गया है। समता के सिद्धान्त के अपवाद के लिए बहुत से अंश जोड़े गये हैं। आपस में विरोधी बातों के कारण तथा विशालता में समन्वय बनाने के लिए न्यायालयों को बड़ा भारी क्षेत्र मिल जाता है। इसी कारण कुछ लोग विशाल संविधान को न्यायविदों का स्वर्ग (Paradise of Lawyers) कहते हैं। बुद्धि की विशेषता संक्षिप्तता में होती हे। यह सब आलोचना के लिए नहीं बल्कि भविष्य के लिए संशोधन करने एवं सुरक्षित संविधान रखने के लिए प्रेरणा की बातें हैं।

अनुच्छेद 15, 16, 17, 18 सभी अनुच्छेद 14 के ही विस्तार हैं। इन्हीं अनुच्छेदों में वांछित व्यवस्था मिल जाती तो अनुच्छेद 14 केवल प्रदर्शन का अंग बन गया है। जबकि यही सबसे महत्वपूर्ण है।

अनुच्छेद 16 सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के विषय में समानता का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु अनुच्छेद 16 में 16(3), 16(4), 16(5) जोड़कर इससे भी अपवाद बना दिया। आरक्षण का प्राविधान इसी

अनुच्छेद में है। अनुच्छेद 16(4) के अधीन आरक्षण का विधान प्रारम्भिक नियुक्तियों में था, किन्तु पंजाब राज्य बनाम हीरालाल आदि मामलों में नियमों को बदलते हुए प्रोन्नति में भी आरक्षण का विधान कर दिया गया। इस अनुच्छेद को बहुत विस्तार में लिखने का अवसर यहाँ नहीं है किन्तु इतना कहना पर्याप्त है कि इसके द्वारा राजकीय कर्मचारियों के सेवा सम्बन्धी विवाद बहुत उग्र स्तर तक पहुँच गये। आरक्षण के विरोध में भी सैकड़ों विद्यार्थियों ने आत्महत्या भी कर लिया। इस अनुच्छेद का पुनरावलोकन तथा योग्यता की प्रतिष्ठा बहुत आवश्यक है।

अनुच्छेद 17 छुआछूत के निवारण के लिए है। सार्वजनिक स्थानों और कार्यों में छुआछूत की भावना को रोकना उचित है। इस आधार पर व्यक्तिगत आचरण में हस्तक्षेप असंवैधानिक होगा। अनुच्छेद 18 में उपाधियों के विषय में रोक लगाई गई है। उपाधियाँ समाप्त की गयी है। पद्म पुरस्कार आदि भी उपाधियाँ ही हैं किन्तु विवाद को न्यायालय ने भी शान्त करते हुए इन पुरस्कारों की मान्यता दी है। न्यायालय ने इन पुरस्कारों को देते समय सचेत किया है कि योग्यता के आधार पर ही यह पुरस्कार दिये जायं। व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को देकर दुरुपयोग न किया जाय। व्यवहार में देखा जा रहा है कि इन पुरस्कारों के देने में राजनैतिक कारण ही ज्यादा प्रभावी हैं।

अनुच्छेद 19 में स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान किया गया है। अभिव्यति, शान्तिपूर्ण सम्मेलन,संघ या समिति बनाना, सम्पूर्ण देश में संचरण, देश के किसी भाग में निवास करना तथा कोई भी व्यापार या जीविका का साधन करना इतने सव अधिकार प्रदान किये गये हैं। अनुच्छेद 19(2) में कुछ निर्वचन दिये गये हैं, जिनके आधार पर स्वतंत्रता के अधिकार में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। प्रेस की स्वतंत्रता आदि सभी महत्वपूर्ण विषय इस अनुच्छेद में दिये गये हैं। समता का अधिकार पूर्ण रूप से पालन होता रहे तो यह अनुच्छेद बहुत प्रभावी रहेगा।

अनुच्छेद 21 प्राण और देहिक स्वतंत्रता का अधिकार देता है। इस अनुच्छेद का विस्तार न्यायालयों के माध्यम से बहुत उपयोगी विषयों तक पहुँचता है। नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त भी इसी अनुच्छेद के अन्तर्गत, न्यायालय द्वारा प्रतिपादित किया गया है। मेनका गांधी बनाम भारत संघ के

मामले में यह आदेश पारित किया गया था। दैहिक स्वतंत्रता में निजता का अधिकार भी इसी के अन्तर्गत हे। न्यायालयों द्वारा इस स्वतंत्रता को मानसिक स्तर के कष्ट देने वाले अपराधों के विषय में भी लागू किया गया है।

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही प्राण या दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। बिना सुनवाई किये किसी को दण्डित न किया जाय। इस तरह कार्य पालिका पर अंकुश लगाया गया है। यह अनुच्छेद युक्तियुक्त होने पर ही, निजता का अधिकार, दूसरी जाति में विवाह, प्रदूषण के विरुद्ध संरक्षण आदि विषयों में भी लागू होता है। समता का अधिकार सुरक्षित रहे तभी यह उपयोगी है।

अनुच्छेद 22- पिछले अनुच्छेद 21 का पूरक है। इसके द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि किस विधि के अन्तर्गत दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार स्थगित किया जाता है। दो विधियों के अन्तर्गत गिरफ्तारी होती है- (1) दण्ड विधि (2) निवारक निरोध विधि। किसी मामले में दण्डित होने पर गिरफ्तार होना 22(1) 22(2) में दिया गया है। यह प्राविधान सर्वमान्य है। 22(4) से 22(6) तक निवारक निरोध विधि के विषय में लिखा गया है। इसके अन्तर्गत अपराध होने की संभावना, देश की सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था आदि कई कारणों से बिना अपराध सिद्ध हुए ही गिरफतारी संभव है।

न्यायालयों में इस अनुच्छेद के विषय में बहुत तरह के वाद चलते रहे हैं। अनुच्छेद 14 से लेकर 21 तक में दिये गये अधिकारों में हस्तक्षेप रोकने के लिए न्यायालय ही कार्यपालिका पर अंकुश लगाते रहे हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा, आतंकवाद, चोर-बाजारी जैसे गंभीर अपराधों से निपटने के लिए यह अनुच्छेद कारगर है। किन्तु जातीय कारणों, वर्ग विद्वेष, एस. सी., एस.टी. एक्ट आदि के आधार पर, बिना सुनवाई के निवारक विरोध विधि का उपयोग समता और स्वतंत्रता के अधिकार के लिए घातक है।

अनुच्छेद 25 से अनुच्छेद 28 तक में धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं। धार्मिक संस्थाओं के पास अपार धन एकत्रित हो रहा है, जिसके उपयोग करने के लिए राजकीय हस्तक्षेप का कानून बनाना आवश्यक है। धर्म आचरण का विषय है। इसके प्रचार के बहाने प्रच्छन्न राजनैतिक या व्यक्तिगत स्वार्थ का उद्देश्य होने पर राजकीय नियंत्रण

आवश्यक है। संन्यासी, फकीर, समाज सेवक, नेता आदि की उपाधि धारण करने वाले लोगों के पास अधिक सम्पत्ति होने पर राजकीय हस्तक्षेप होना चाहिए क्योंकि संस्कृति एवं परम्परा के अनुसार इन्हें धन संचय का अधिकार नहीं है। यह अर्थ के मोह से दूर रहे। अनुच्छेद 29, 30 अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए है। भाषा, लिपि, संस्कृति और धर्म अल्पसंख्यक माने जाने के लिए आधार है। संविधान में अल्पसंख्यक शब्द परिभाषित नहीं है। यू. एन. ओ. की मानवाधिकार सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट 1950 में अल्पसंख्यक की परिभाषा निम्नलिखित दी गयी है–

The term minority includes only those non-document groups in a population which possess and wish to preserve stable ethnic religious or linquistic traditions, characteristics markedly different from those of the rest population.

(ii) Such minorities should properly include a number of persons sufficient. by themselves to preseve such traditions or characteristics.

(iii) Such minorities must be loyal to state of which they are nationals.

इस तरह अल्पसंख्यक का अर्थ है कि ऐसी प्रजाति जिनकी संस्कृति उच्छिन्न होने का भय हो और उसे सुरक्षित रखना चाहते हों तथा राष्ट्र के प्रति वफादार हों। राष्ट्र के प्रति समर्पित न होने पर जाति, धर्म या किसी कारण से अल्पसंख्यक मानना उचित नहीं है। अपने देश में मिजोरम व कश्मीर में हिन्दू अल्पसंख्यक माने गये हैं। इस तरह अल्पसंख्यक की मान्यता देने पर प्रदेश, जिला, मुहल्ला के स्तर पर अल्पसंख्यक बनाने का प्रस्ताव आ सकता है। केवल वाराणसी में देश के सभी भाषा, संस्कृति तथा धर्मों के मानने वाले मुहल्ला बनाकर रहते हैं। अल्पसंख्यक घोषित करने में इस तरह के उदाहरण ध्यान देने योग्य है। इस अनुच्छेद पर गहन विचार आवश्यक है क्योंकि अल्पसंख्यक के नाम पर हो रहे राजकीय कोष का व्यय तथा प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ कम की जा सकती हैं। अल्पसंख्यक न घोषित करने पर भी स्वतंत्रता, संस्कृति का संरक्षण आदि के अधिकार संविधान में सबको दिये गये हैं। इन्हीं अधिकारों से सभी सुरक्षित रह सकते हैं।

संस्कृति के संरक्षण के सम्बन्ध में चिन्तन करते समय सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति के संरक्षण की बात सोचनी चाहिए। बढ़ते हुए विदेशी संस्कृति के प्रकोप से भारतीय संस्कृति के उच्छिन्न होने का भय है। भारत में सुरक्षित न रहने पर यह संस्कृति विश्व से गायब हो जाएगी। अतः संविधान में इस तथ्य को आदर दिया जाय।

अनुच्छेद 32 में नागरिकों को दिये गये अधिकारों की सुरक्षा के लिए न्यायालयों के अधिकार व कर्तव्य निर्धारित हैं। आजकल न्यायालयों के पास इतने वाद लम्बित हो गये हैं कि समय से निर्णय न होने के कारण न्याय की व्यवस्था ठीक नहीं रह गयी है। यदि विधायिका तर्क संगत और न्यायसंगत कानून बनाने लगे तो कार्य पालिका भी उनका प्रवर्तन सही ढंग से करेगी। इस तरह दो अंगों के भ्रष्टाचार मुक्त होने पर ही न्यायपालिका समय से न्याय देने में सक्षम हो पाएगी। विवादों की संख्या कम करने का यही उपाय है। विधायिका को न्याय संगत कानून बनाने के लिए आत्म संयम करना चाहिए। राजनैतिक हित में कानून न बनाये जायें क्योंकि इनके कार्यान्वयन में भ्रष्टाचार होने से मुकदमों की संख्या बढ़ती है।

हमारी संस्कृति में राग-द्वेष से रहित व्यक्ति ही कानून बनाता था और राजा निष्पक्ष ढंग से इसका प्रवर्तन करता था। अपराधी को तत्काल दण्ड दिया जाता था। यह व्यवस्था अब भी संभव है।

3. नीति निर्देशक तत्व—संविधान के अनुच्छेद 36 से अनुच्छेद 51 तक में राज्य के लिए तथा नागरिकों के हित में नीति निर्देशक तत्व दिये गये हैं। इसमें से बहुत अंश न्यायालयों के आदेश और विविध कानूनों से मूलाधिकार की तरह महत्वपूर्ण हो गये हैं। अनुच्छेद 39 को मूलाधिकारों के ऊपर संविधान संशोधन द्वारा प्रतिष्ठित कर दिया गया है।

अनुच्छेद 43 बहुत महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने का प्राविधान इसमें है। लघु उद्योगों की स्थापना सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षों को उच्च स्तर पर रखना इस अनुच्छेद में विहित है। इस अनुच्छेद पर बहुत अधिक कार्यवाही अपेक्षित है। हमारी सांस्कृतिक सम्पदा को सुरक्षित रखने का कार्य सर्वोपरि महत्व का है। इस विषय पर आवश्यक कार्यवाही अभी नहीं की गयी है। पैतृक व्यवसाय के प्रोत्साहन, लघु उद्योगों की स्थापना से यह समाज आत्म-निर्भर हो सकता है। इस अनुच्छेद पर कार्यवाही राष्ट्रहित में होगी। अनुच्छेद 39 की तरह यह

अनुच्छेद भी, संशोधन द्वारा मूलाधिकार पर नियंत्रण कर सके तो सांस्कृतिक पक्ष का पोषण होगा।

अनुच्छेद 44 में समान आचार संहिता प्रवर्तित करने के निर्देश हैं। इस अनुच्छेद पर भी कार्यवाही करना बहुत महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 46 में अनुसूचित जाति जनजाति तथा कमजोर वर्ग के लिए शिक्षा प्रदान करने तथा आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए विशेष प्रयास करने का निर्देश है। इस अनुच्छेद पर बहुत अधिक कार्यवाही की गयी है किन्तु सही दिशा में प्रयास नहीं हो पाया। अभीष्ट परिणाम नहीं मिल पाया। जाति और वर्ग का आधार छोड़कर आर्थिक और शैक्षणिक आधार स्वीकार करना उपयोगी है। इस आधार पर शिक्षा व्यवस्था और रोजगार का सृजन करना तर्कसंगत है। समानता के अधिकार को ध्यान में रखते हुए तर्कसंगत आधार स्वीकार करना निर्विवाद रहेगा।

4. मूल कर्त्तव्य—मूल कर्तव्यों को संविधान के अनुच्छेद 51-क में दिया गया है। इन कर्तव्यों के पालन की आशा राज्य अपने नागरिकों से करता है। इनके पालन के अनुकूल परिस्थिति बनाना, राज्यों का ही कार्य है।

अधिकारों की व्यवस्था-समता और स्वतंत्रता के सिद्धान्त के अनुसार बनी रहे तभी मूल कर्तव्यों का पालन स्वेच्छया होता रहेगा। इन कर्तव्यों में संस्कृति की गौरवशाली परम्परा को चलाने और उसकी रक्षा का विधान है। इनमें व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियें में उत्कर्ष (Excellence) का प्रयास भी विहित है। वैसे सभी कर्तव्य महत्वपूर्ण है किन्तु अनुच्छेद 51 (क) (च) और (ञ) विशेष महत्व के हैं। यह संस्कृति की रक्षा में सहायक है। 51(क)(ग) में शिक्षा के विषय में प्राविधान है। प्रत्येक गाँव में गुरु परम्परा से पढ़ाने वाले, गुरुकुल के संचालक ही प्राथमिक शिक्षा देने लगे तो लाभकर रहेगा। इन कर्तव्यों के लिए प्रेरणा सांस्कृतिक हित में है।

5. सामान्य राजकीय तंत्र—अनुच्छेद 52 से 329 तक में विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के गठन, अधिकार, कार्य विभाजन आदि पर विधान है। इनके विषय में योग्यता को वरीयता देने की बात महत्वपूर्ण है। चुनाव, नियुक्ति, पदक, प्रशासन आदि सब योग्यता के अनुसार होना चाहिए। राष्ट्रपति होने के लिए देश और बाहर तक अच्छी ख्याति का विचारक, वैज्ञानिक या समाजसेवी होना योग्यता है। इसी तरह

सांसद, विधायक आदि निर्वाचन के पदों के लिए पात्रता और योग्यता का निर्धारण होना चाहिए। शिक्षा, राजनैतिक नैतिकता, समाज सेवा आदि में अच्छी ख्याति, तथा पूर्व प्रशिक्षण और अनुभव होना चाहिए। डाक्टर, इंजीनियर, वकील आदि को नैतिकता की शपथ दिलाई जाती है। राजनीति में आने वाले भी शपथ पूर्वक कार्य करते हुए पारदर्शी आचरण रखें। इनके आचरण से जनता में सही सन्देश जाना चाहिए।

योग्यता होने पर एक ही परिवार के लोग जज, अधिकारी, नेता हो सकते हैं। अन्य बातों पर ध्यान न देकर योग्यता को ही मूल माना जाय। बलात योग्यता का आरोपण किसी पर न किया जाय। चुनावों में नीति और योग्यता पर ही ध्यान देना उचित है। प्रचार तंत्र से गलत को सही साबित करना हानिकारक है। प्रचार करने के लिए इसका व्यवसाय करने वालों को धन देकर उनका उपयोग करना, लोकतंत्र का उपहास है। धन और बाहुबल का प्रयोग लोकतंत्र की हत्या है। इसे नहीं रोका गया तो पूरा शासन तंत्र अपराधियों के हाथ में रहेगा। चुनाव आयोग को इस विषय में विशेष अधिकार देने की आवश्यकता है।

जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, संस्कृति, व्यवसाय आदि के आधार पर प्रत्येक तरह के लोगों का प्रतिनिधित्व संसद में होना चाहिए। इसके लिए अलग से संख्या और अनुपात के अनुसार योग्य व्यक्तियों को मनोनीत करना पुरानी परम्परा है।

स्वतंत्रता संग्राम के समय देश-प्रेम की भावना ही प्रधान थी। कुछ चतुर लोग उस समय से ही अपने प्रभुत्व की व्यवस्था में लग गये थे। बलिदान देने वाले निःसन्देह देश-सेवा से ही अनुप्राणित थे। वह भावना अब भी उतनी ही आवश्यक है। विधायक, सांसद और इस श्रेणी के अन्दर लोग अपनी सुख-सुविधा धन संचय की भावना, न प्रगट करे तो सही अर्थ में समाज सेवक हो सकते हैं। पद-प्रतिष्ठा के अनुसार, राजकीय कर्मचारियों और देश की स्थिति से तुलना करते हुए, सांसद आदि भी उतना ही वेतन या भत्ता ले जो उचित है। पेंशन द्वारा जीविका की स्थायी व्यवस्था, समाज सेवा के नाम पर व्यवसाय है। राजनीति और संविधान के द्वारा स्थापित माननीय लोगों पर जनमत दिग्भ्रमित है, अतः लोक का नियंत्रण नहीं रह गया है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में इनके ऊपर आत्मसंयम और धर्म का ही शासन होता है।

6- पंचायत नगरपालिका- संविधान के भाग-9 में ग्राम पंचायतों के गठन की व्यवस्था 1992 में संविधान संशोधन के द्वारा की गयी है। इन पंचायतों के क्रियाकलाप पर अध्ययन और विचार करने पर कुछ बातें महत्वपूर्ण दिखायी पड़ती हैं।

(क) पंचायतों को त्रिस्तरीय बनाकर गाँव को इकाई बनाने पर गाँवों में विवाद, हिंसा, गुटबन्दी, असहयोग आदि बुराइयाँ व्याप्त हो रही हैं। राजनीति को गाँव स्तर से दूर रखना ही श्रेयस्कर है।

(ख) गाँव में जो मुखिया या प्रधान हैं उनके पास अर्थार्जन का कोई साधन न दिया जाय तो विवाद स्वतः समाप्त हो जाएगा। सारा झगड़ा, सरकारी धन के लूट के लिए हो रहा है।

(ग) सम्भव हो तो पंचायतों को ब्लाक व जिला स्तर तक रखा जाय और नीचे का स्तर समाप्त कर दिया जाय।

(घ) विकास कार्यों में गाँव के प्रमुख लोगों की सलाह लेकर विकास के कार्य हो सकते हैं। आर्थिक अधिकार ब्लाक या जिला स्तर पर ही दिया जाय।

(ङ) संसद और विधान सभा के लिए दिये गये सुझाव, पंचायतों में भी लागू होंगे। आरक्षण बन्द किया जाय तथा मनोनयन द्वारा हर वर्ग के प्रतिनिधि को स्थान दिया जाय।

(च) योग्यता और कार्यकुशलता के साथ समझौता न हो। प्रधान की जगह प्रधान पति के कार्य करने से व्यवस्था हास्यास्पद हो जाती है। नारी को किसी भी पद से वंचित न रखा जाय। किसी भी पद के लिए योग्य होने पर, उचित स्थान दिया जाय। आरक्षण द्वारा पदासीन करना अनुचित है।

7. नैसर्गिक न्याय— सेना के अतिरिक्त लोक सेवा में सर्वत्र नैसर्गिक न्याय देने का प्राविधान अनुच्छेद 311 में है। न्याय के इस सिद्धान्त का, किसी व्यक्ति को निरुद्ध या दण्डित करने के विषयों में भी, क्षेत्र विस्तार किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के द्वारा आरक्षण की व्यवस्था समाप्त करनी पड़ेगी। आरक्षण द्वारा वरिष्ठ को कनिष्ठ बना देना अन्याय है।

8. कुछ वर्गों के लिए विशेष उपबन्ध—संविधान की उद्देश्यिका आदर्श स्थापित करती है जिसमें समानता और स्वतंत्रता की पूर्ण आशा जागृत होती है। अनुच्छेद 14 में समता का अधिकार मुक्तहस्त से देने की

व्यवस्था है। यह आकर्षक व उदात्त अनुच्छेद है। अनुच्छेद 15, 16 से ही पूर्व संकल्पों से विचलन का विधान आरम्भ हो गया है। आरक्षण की भूमिका तैयार की जाने लगी है। यही भूमिका विस्तृत रूप में संविधान के भाग 16 (अनुच्छेद 330 से 342 तक) में जाति-वर्ग के आधार पर आरक्षण और संरक्षण के प्राविधान के विस्तृत रूप में स्थापित कर दी गयी।

दलित और पिछड़े वर्ग की उन्नति तथा अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की व्यवस्था राज्य का प्रमुख कर्तव्य है। यह सभी को स्वीकार्य है। किन्तु आरक्षण की जिस व्यवस्था द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की योजना बनाई गई है, वह सन्देहास्पद थी। इसीलिए दश वर्ष तक प्रयोग हेतु इसे लागू किया गया था। इसके बाद अवधि बढ़ाते हुए सत्तर वर्ष के बाद भी उद्देश्य की पूर्ति होना तो दूर रहा, अनेक नई समस्यायें पैदा हो गयी। वर्ग विद्वेष और प्रशासनिक समस्या बढ़ गई है जबकि वास्तविक लाभार्थी अब भी वंचित हैं। यह पूरा प्रकरण पुनर्विचार का विषय है। वोट तथा तुष्टीकरण के लिए सरकार इसे समाप्त नहीं कर पा रही है। साँप छछूंदर की गति बनी हुई है। न्यायालयों द्वारा इसमें गंभीर हस्तक्षेप हुए हैं जिससे प्रमाणित होता है कि व्यवस्था न्यायसंगत नहीं है। संविधान में संशोधन द्वारा न्यायालयों के आदेश की उपेक्षा करके व्यवस्था को पुनः लागू कर दिया गया है। स्थिति बदतर होती जा रही है। अनुच्छेद 335 पर न्यायालय की प्रतिक्रिया होने पर संविधान संशोधन 81 एवं 82 से नये तरीके से वही प्राविधान पुनः लागू कर दिया गया है। इससे न्यायालय का क्षेत्र तो समाप्त हो गया किन्तु न्याय की प्रतिष्ठा नहीं हुई।

समता के अधिकार को सुरक्षित रखते हुए, योग्यता के सम्मान के साथ, दलित और पिछड़ी जाति का वास्तविक हित करना संभव है। उनकी योग्यता बढ़ाने और आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए उपाय किया जा सकता है। इसके लिए जाति को आधार न मानने पर सारा विवाद समाप्त हो जाएगा। पिछड़े लोगों की योग्यता में वृद्धि के लिए सरकार जो भी धन खर्च करे उसमें किसी को आपात्ति नहीं हो किन्तु प्रतियोगिता में आरक्षण देने पर सब तरह से विरोध और हानि है। इस विषय को अनेक तर्कों से पुष्ट किया जा सकता है। व्यवहार में भी पाए गये परिणाम से इसका आकलन हो सकता है। अतः अति विस्तार में जाने की आवश्यकता

नहीं है।

अनुच्छेद 335 को अनुसूचित जाति एवं जनजाति का अधिकार (क्लेम ऑफ सिडयूल कास्ट एण्ड सिडयूल ट्राइब्स) कहा गया है। क्लेम शब्द से अधिकार पूर्वक दावा करने का अर्थ निकलता है। किन्तु यह व्यवस्था दावा के द्वारा नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था के लिए मानवीय आधार पर होनी चाहिए। यह व्यवस्था सामाजिक न्याय के नाम पर की गयी है, जबकि सामाजिक न्याय में भी व्यक्ति की गरिमा महत्वपूर्ण है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के बिना समाज की प्रतिष्ठा नहीं हो सकता है। महान विचारक कान्ट ने लिखा है–

"Niether nature (realist) nor economic (marx) is the ground of justice Actually it is respect for personality. व्यक्तित्व के आदर से ही न्याय की प्रतिष्ठा हो सकती है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा समता एवं योग्यता के आदर पर ही निर्भर करती है।

इन्दिरा साहनी बनाम भारत संघ तथा इसी तरह के मामलों में न्यायालय के आदेशों का प्रभाव समाप्त करते हुए संविधान संशोधन 82 किया गया है। इसमें कठोर निर्णय लेते हुए संसद ने पारित किया–

"Provided that nothing in this article shall prevent in making any provision in favour of members of S.C. and S.T. for relaxation of qualifying marks in any examination or lovering the standard of examination for reservation in matters of promotion."

इस तरह योग्यता और प्रवीणता की शर्त के होने पर भी नियुक्ति और प्रोन्नति में उसे निष्प्रभावी बना दिया गया है। एक ही अनुच्छेद में दोनों बातें मौजूद है। इसमें संसद और न्यायपालिका की रस्सा कसी स्पष्ट है। यह स्थिति ठीक नहीं है। विधायिका बहुत बड़ी शक्ति है किन्तु इसका उपयोग न्याय की प्रतिष्ठा में होना अच्छी बात है। न्याय की प्रतिष्ठा के साथ ही पिछड़े वर्ग के उत्थान के रास्ते उपलब्ध हैं। आरक्षण का मुख्य उद्देश्य यह था कि पिछड़ों को समाज की मुख्य धारा से जोड़ा जाये। जोड़ने के बजाय समाज को तोड़ते हुए वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। आरक्षण सम्बन्धी पूरी नीति का गंभीरता पूर्वक निष्पक्ष पुनरावलोकन किया जाय। आरक्षण, मुफ्त खाद्य पदार्थ, अनुदान द्वारा पिछड़ों का स्वाभिमान घटाने के बजाय योग्य बनाकर उनको स्वाभिमानी बनाया जाय। योग्यता के बिना

स्वाभिमान का प्रदर्शन मिथ्या अहंकार कहा जाता है। योग्य बनाना ही विकल्प है। कृष्णवन्तो विश्वमार्यमयह हमारी संस्कृति में है।

9. राजभाषा–अनुच्छेद 343 में उपबन्ध है कि संघ की भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। 15 वर्ष के लिए अंग्रेजी का प्रयोग करने की शिथिलता दी गयी थी। अनुच्छेद 351 में हिन्दी के विकास के लिए उपबन्ध बनाये गये हैं जो महत्वपूर्ण है। इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद इस बिन्दु पर निर्भय होकर दृढ़ निश्चय से कार्यवाही नहीं की जा रही है। राज्यभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करना राष्ट्रीय अस्मिता का विषय है जो प्राथमिकता के साथ सुलझाना चाहिए।

राजभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों में भेद नहीं है। संविधान के अनुसार राजभाषा शब्द का ही प्रयोग होता है। राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत को कर दिया जाय तो संस्कृत भाषा की गरिमा बढ़ेगी। अपने यहाँ संविधान में बाइस क्षेत्रीय भाषाएँ मान्य हैं। संस्कृत भाषा को सर्वत्र आदर मिलता है। अनुच्छेद 344 में राजभाषा आयोग के गठन का विधान है। आयोग के गठन होते हुए भी राज्य का उत्तरदायित्व है कि हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करें।

10. सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी विविध आयोगों का गठन– अनुसूचित जाति आयोग, महिला आयोग, अल्पसंख्यक आयोग, तथा अनुसूचित जनजाति जैसे आयोग सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से बनाये गये हैं। इन आयोगों का उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्तियों के सशक्तीकरण के लिए है। इन्हें इतना अधिकार दिया गया है कि चिन्तकों और विचारकों को सामाजिक विषय में निष्पक्ष अभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता नहीं रह गयी। हर जगह भेदभावकारी कानूनों के कारण समाज की समरसता प्रभावित हो रही है। किसी विचारक की बात वर्ग विशेष के लिए पक्ष में न होने पर, उसे आहत करने वाली बात मानी जाती है। विचारक को दूर स्थान पर मुकदमा झेलने तक की नौबत आ जाती है। इससे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बहुत आघात लग रहा है। स्वतंत्र चिन्तन में बाधा रहती है। आर्थिक और मानसिक कष्ट के भय से स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रकाशित करने में बाधा हो रही है। मुकदमा चलाना आवश्यक हो तो विचारक के निकट की न्यायालय में मुकदमा करना उचित है। दूर जाने में असुविधा होती है। मुकदमों में शायद ही किसी को कोई सजा मिलती है।

इन आयोगों के उद्देश्य की पूर्ति अपनी सांस्कृतिक विरासत के तरीकों से प्राप्त की जा सकती है। सांस्कृतिक चेतना जागृत करने पर, हम 'यत्र विश्वम् भवत्येक नीरम्' सर्वे भवन्तु सुखिनः' 'आत्मवत सर्वभूतेषु' आदि आदर्शों के द्वारा सामाजिक समरसता स्थापित कर सकते हैं तथा किसी का विरोध और अन्याय नहीं होगा। इससे अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता बनी रहेगी। नारी के विषय में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता', इयम् गेहे लक्ष्मी इयममृतवर्तिः नयनयोः।'' आदि वाक्यों को आदर्श मानकर नारी की गरिमा बढ़ाने तथा उसकी सुरक्षा में सफल हो सकते हैं।

इस तरह हमारी संस्कृति में इन आयोगों की उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इन सब आयोगों के स्थान पर संस्कृति संरक्षण आयोग की स्थापना की जा सकती हे। इसी आयोग के द्वारा समाज से सम्बन्धित सभी उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। संस्कृति की परिभाषा एवं लक्षण पुस्तक के आरम्भ में दी गयी है। इसी आदर्श से अनुप्राणित आयोग सफल होगा। संस्कृति के नाम पर ग्राम्य बातों का प्रदर्शन, अनर्गल व अश्लील कार्यक्रम किये जाते हैं। यह कार्यक्रम हमारी संस्कृति के अनुकूल नहीं है। कुछ कुरीतियों के आधार पर संस्कृति में दोष देखना उचित नहीं है। दोषों को दूर किया जा सकता है। हमारे शास्त्र ही इस कार्य को करने में सक्षम है। छुआ-छूत की समस्या, बेगार लेना, शोषण, दलित का निरादार, बेटी को उचित सम्मान न देना, दहेज प्रथा आदि दुर्गुण शास्त्र के विरोधी है। मनुस्मृति में कोई भी वर्ण अछूत नहीं माना गया है। शास्त्रों का आश्रय लेने पर हमारी उज्जवल संस्कृति समाज के लिए अब भी वरदान है।

नारी को पुरुष का, दलित और पिछड़ों को सवर्ण का तथा अल्प संख्यक को बहुसंख्यक का प्रतिद्वन्द्वी बनाने वाले विधान समाज में अव्यवस्था पैदा कर रहे हैं। यह सब राजनीति के कारण और अंग्रेजों की फूट डालने वाली नीति को संविधान में भी स्थान देने के कारण है। स्वतंत्र भारत में यह हथकण्डा निन्दनीय है। इन आयोगों की कार्य प्रणाली भी इसी दिशा में है। इनकी असफलता का आकलन इसी से हो सकता है कि कश्मीर के अल्पसंख्यक पंडितों की सहायता नहीं हो सकी। अगर इसके लिए संविधान में संशोधन आवश्यक है तो वह किया जाना चाहिए। संवेदना का अभाव है। निष्पक्ष कार्य नहीं हो रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से

विचार करने पर यह समस्याएँ प्राथमिकता पर समाप्त की जा सकती है।

जमींदारी प्रथा, विदेशी संस्कृतियों के आघात जैसे कारणों से हमारी सांस्कृतिक क्षति हुई है। अब उसे पूरा करना हमारा कर्तव्य है। अतः सब आयोगों को एक उद्देश्य मूलक मानकर संस्कृति संरक्षण आयोग की स्थापना की जाय। प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के विचारक मिलकर यह कार्य करेंगे। इसमें कोई किसी का प्रतिद्वन्द्वी नहीं बल्कि एक दूसरे के सहयोगी और समान हो सकते हैं। वज्र से भी कठोर और पुष्प से भी मृदुल हमारी संस्कृति वर्तमान समस्याओं को दृढ़ता तथा प्रेम पूर्वक समाप्त कर सकती है।

11. संविधान संशोधन—संविधान का आकार और विचार-क्षेत्र बहुत वृहद् है। व्यापक दृष्टि होने पर भी कुछ प्राविधान न्यायालय की दृष्टि से न्यायंसगत नहीं पाये जाते हैं। कुछ प्राविधान जो कानून के रूप में भी बनाये गये हैं, उन्हें समाज स्वीकार नहीं करता है। अतः संविधान के संशोधन हुए हैं और अब तक किये जा रहे हैं। अब तक सौ संशोधन हो चुके हैं जिनमें 25 से अधिक आरक्षण से सम्बन्धित है। उसके बावजूद भी संविधान में आरक्षण और संरक्षण के प्राविधानों तथा सामाजिक विषयों पर ऐसे कानून हैं जिन्हें हिन्दू समाज स्वीकार नहीं कर रहा है। संविधान के संशोधन द्वारा अनुच्छेद 14 को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करने पर समानता की व्यवस्था संभव है।

12. नारी का सम्मान—नारी के सशक्तिकरण तथा उसे स्वावलम्बी बनाने के विषय संविधान एवं कानूनों के द्वारा बहुत व्यवस्था की गयी है। माता-पिता, पति, पुत्र तथा स्वजनों के संरक्षण में नारी जितनी सुरक्षित रहती थी उतनी अब नहीं है। स्त्री और पुरुष मिलकर ही परिवार को सशक्त बनाते हैं। गृह लक्ष्मी तथा मालकिन रहते हुए स्त्री स्वावलम्बी रहती थी। अब भी परिवार के सुदृढ़ रहने पर स्त्री भी सशक्त रहेगी। जहाँ तक सुरक्षा का प्रश्न है नारी अपने चरित्र और शील से ही सुरक्षित रहती है। इसके बिना सरकार भी सुरक्षा नहीं कर सकती है।

नारी से सम्बन्धित प्राविधानों के पुनरावलोकन की आवश्यकता है। सामाजिक प्रतिबन्ध से नारी का शोषण नहीं बल्कि उसकी सुरक्षा का उपाय होता है। स्वतंत्र रखने में नारी असुरक्षित हो जाती है। अपनी संस्कृति के अनुसार वेषभूषा, सामाजिक सम्बन्ध, रहन-सहन की विधि आदि में संयम

पूर्वक निर्वाह आवश्यक है। किसी पुरुष के साथ एकान्त में रहना नारी के लिए उचित नहीं है। इसका पालन न करने पर परिवार या सरकार सुरक्षा नहीं दे सकती। कानून द्वारा ऐसे आचरण को रोकना पड़ेगा। इसी में नारी का सम्मान और उसकी सुरक्षा है।

समलैंगिक सम्बन्ध, लिव इन, मी-टू जैसी कुप्रथाओं के कारण यौन सम्बन्ध में पवित्रता का कोई स्थान नहीं रह गया है। भारतीय चरित्र का अधोपतन हो गया है। कानूनों द्वारा इस स्थिति में परिवर्तन परम आवश्यक है। भारतीय नारी का आदर्श सती, सीता, अनुसुइया आदि हैं। सतीत्व का महत्व स्थापित करना सामाजिक व्यवस्था के लिए जरूरी है। चल चित्रों तथा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित नारियां हमारे समाज के लिए आदर्श न रहें। जो काम कानून से नहीं हो सकता है वह भी सामाजिक व्यवस्था से हो सकता है। घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न आदि का हल सामाजिक है। सामाजिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाय कि ये अपने भारतीय संस्कृति के आदर्शों का प्रचार करें तथा बालिकाओं और स्त्रियों को शिक्षा के स्तर पर योग्य होने के साथ पारिवारिक स्तर पर भारतीय रहने की प्रेरणा दें।

संविधान तथा कानूनों में भी समाज के माध्यम से नारी सशक्तीकरण की व्यवस्था की जाय। शासन के हस्तक्षेप से राजनीतीकरण न किया जाय।

13. स्वतंत्रता के बाद विधि निर्माण की दिशा—हमारे यहाँ बहुत से एक्ट ब्रिटिश शासन के बनाये हुए अब भी लागू हैं। उन कानूनों और नियमों में कहीं कहीं भारतीय परम्परा और संस्कृति की अनदेखी की गयी है। उदाहरण के लिए इण्डियन पेनल कोड की धारा 497 में जारकर्म (Adultery) को अपराध माना गया है। किन्तु यह केवल विवाहित महिलाओं के विषय में लागू होता है। वह भी पति की सहमति होने पर अपराध नहीं रह जाता। इसमें जारकर्म करने वाला पुरुष ही दण्डनीय होता है। हमारी संस्कृति के अनुसार नियम बनाने पर जारकर्म का अपराध अपनी स्त्री के अलावा किसी भी अन्य महिला के साथ सम्बन्ध स्थापित करने पर माना जाएगा। गौतम ऋषि ने इन्द्र, अहिल्या तथा चन्द्रमा तीनों को दण्ड दिया था। जारकर्म करने वाला, स्त्री तथा इस काम में सहायक तीनों दण्डनीय हैं। अविवाहित, विधवा औरतों के विषय में तथा पति की सहमति

होने पर भी जारकर्म करने वाले पुरुष तथा सम्बन्धित स्त्री दोनों दण्डनीय हैं। स्वतंत्रता के बाद ऐसे नियमों का परिवर्तन और भारतीयकरण होना चाहिए। यह हमारी दासता के चिन्ह हैं। संस्कृति को महत्व न देने के कारण संविधान की पृष्ठभूमि में ही कानून और न्यायालयों के निर्णय हो रहे हैं। भारतीय समाज को स्वीकार न करने योग्य कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं–

आई.पी.सी. की धारा (377) में अप्राकृतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने के अपराध पर दण्ड विहित था। स्वास्थ्य, प्राकृतिक नियम, संयम, लोक मर्यादा आदि की दृष्टि से समलैंगिक विवाह, यौन सम्बन्ध या कामाचार वर्जित माना जाता है। हमारी संस्कृतिक परम्परा में भी इस तरह के आचरण वर्जित हैं। इन पर रोक न होने पर मनुष्य पशु से भी अधिक निन्दनीय हो जाएगा, उसके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा, यह बातें ध्यान देने योग्य हैं। विदेशी शासन में भी इसे अपराध माना जाता था। किन्तु न्यायालय के आदेश द्वारा अब इस आचरण को अपराध नहीं माना जाता है। सुरेश कुमार कौशल बनाम राज फाउण्डेशन तथा सितम्बर 2018 में नवतेज सिंह जौहर बनाम भारत संघ के मामले में सहमति पूर्वक, वयस्क लोगों में समलैंगिक सम्बन्ध अपराध नहीं रह गया है। यह आदेश संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 19, 21 के आधार पर हुए हैं।

आई. पी. सी. की धारा 497 जारकर्म के विषय में है। इस धारा के अनुसार केवल विवाहिता स्त्री के साथ पति की सहमति के बिना यौन सम्बन्ध दण्डनीय माना जाता था। इस धारा में निम्नलिखित कमियाँ पहले से मौजूद थीं–

1. अविवाहिता तथा विधवा के साथ सम्बन्ध भी, यदि रेप न हो तो भी दण्डनीय होना चाहिए।

2. पति की सहमति होने पर भी दण्ड विधान होना चाहिए क्योंकि स्त्री पति के मन-मानी कार्यों के लिए व्यभिचार हेतु व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती है।

3. जारकर्म करने वाले पुरुष की पत्नी को भी शिकायत का अधिकार होना चाहिए था।

4. अपराध में सहमति देने वाली स्त्री भी दण्डनीय होनी चाहिए थी। इस सब कमियों और संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 19 के आधार पर

न्यायालय द्वारा जासेफ साइन बनाम भारतसंघ के वाद में 26 सितम्बर, 2018 को धारा 497 समाप्त कर दी गयी है।

इन वादों के निर्णय में अनुभवी वकील व बुद्धिमान न्यायाधीशों ने सम्यक विचार किया है। अतः इनकी तार्किकता पर हम कुछ नहीं कह सकते हैं। यह अवश्य है कि भारतीय संस्कृति को संविधान का अर्थ निकालने में आधार मान लिया जाय तो हमारी पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। धारा 497 की कमियों को दूर करके, उसे पुनः स्थापित किया जा सकता है। पाश्चात्य कानून तथा न्यायिक आदेशों को अपने यहाँ आधार मानने की प्रथा बन्द हो सकती है।

अपने यहाँ लिव इन, समलैंगिक सम्बन्ध, मीटू जैसे आचरण के द्वारा, अमर्यादा और भयादोहन को प्रोत्साहित करना संस्कृतिक के अनुरूप नहीं है। यदि सांस्कृतिक बन्धन समाप्त हो जाएंगे तो स्वतंत्रता के लिए तर्कों को बढ़ाते हुए विवाह संस्कार तथा उसकी मर्यादा समाप्त हो जाएगी। आदिम संस्कृति का युग आ जाएगा। ऐसा ही माना जाएगा तो अधिकतर लोग विवाह किये बिना ही सुखी रहेंगे। नारी के सशक्तीकरण और स्वतंत्रता की मर्यादा को तोड़ने में भारतीय संस्कृति ही टूट जाएगी। अतः इस विषय में पुनरावलोकन अति आवश्यक है।

अपराध नियंत्रण के अलावा सामाजिक व्यवस्था के विषय में भी जो कानून बने हैं, वे संस्कृति और परम्परा के विरोधी हैं। अंग्रेजों के समय तक हिन्दू विधि की जो स्थिति थी, वह बहुत अंशों में स्वीकार करने योग्य थी। स्वतंत्रता के बाद हम लोगों ने नई हिन्दू विधि बनाने का गलत निर्णय लिया। हिन्दू कोड विल का एक प्रारूप डॉ. अम्बेडकर ने 1951 में प्रस्तुत किया था। इसे भारतीय समाज को अत्यन्त असह्य समझते हुए अन्य नेताओं ने नहीं पास किया। इस पर डॉ. अम्बेडकर ने नेहरू के मंत्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया था। हिन्दू कोड विल के पास कराने का प्रयास चलता रहा। संशोधन के साथ 1955, 56 में धर्माचार्यों के घोर विरोध के बावजूद यह विल पारित कर दिये गये।

यहाँ प्रश्न यह है कि केवल हिन्दू की संस्कृति में हस्तक्षेप क्यों किया जा रहा है। अन्य लोग संस्कृति और परम्परा के पालन से स्वतंत्र रहे हैं। हमारे यहाँ विवाह, उत्तराधिकार आदि विषयों से सम्बन्धित प्रकरण में स्मृतियाँ, मिताक्षरा-टीका, आदि का अध्ययन न करते हुए नये कानून

बनाये गये हैं। आधुनिक स्थिति को देखते हुए, समाज स्वयं परिवर्तन कर लेता है। सांस्कृतिक पक्ष को समाज सुरक्षित रखता है किन्तु कानूनों द्वारा इस पर आघात हुआ है। हमारी संस्कृति पुरुष प्रधान रही है। इसे बदलने का प्रयास निन्दनीय है। नारी के सम्मान और उसकी सुरक्षा प्रणाली संस्कृति से भी संभव है। नारी के सशक्तीकरण के नाम पर उलटी व्यवस्था तथा सामाजिक मान्यताओं की अनावश्यक उपेक्षा उचित नहीं है।

उत्तराधिकार के नियमों को देखने से लगता है कि पिता के घर, ससुराल या चाहे जहाँ से हो अधिक से अधिक सम्पत्ति नारी के नाम हो जाय। भाई-बहन का सम्बन्ध तथा परिवार का संगठन इससे प्रभावित हो सकता है। समाज की प्रबलता के कारण इन कानूनों की उपेक्षा की जा रही है तथा पूर्ववत उत्तराधिकार की परम्परा कायम है। लोगों को वसीयत रजिस्टर कराने की एक अनावश्यक प्रथा चल पड़ी है। यह समाज के लिए भेदभावकारी दण्ड है।

एस सी एण्ड एस टी एक्ट को देखकर ऐसा लगता है कि संविधान के अनुच्छेद 14 तथा 19 आदि बेमानी है। इन नियमों का दुरुपयोग हो रहा है। अतार्किक, अव्यावहारिक तथा असमानता को स्थापित करने वाले यह कानून माननीय न्यायालयों द्वारा भी समाप्त किये गये किन्तु संविधान संशोधन और कानून द्वारा पुनः स्थापित है। आरक्षण की नीति भी इसी तरह की अनीति है। इतिहास में इन कानूनों को हास्यास्पद और निन्दनीय माना जाएगा।

भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित होने तथा स्वाभिमान के जाग्रत होने पर यह दुर्दशा समाप्त होगी। देश को वास्तविक स्वतंत्रता तभी मिलेगी।

भाग-4

पुनरावलोकन योग्य मुख्य बिन्दु

अब कुछ महत्वपूर्ण तथ्य तथा पहले भी प्रस्तुत किये गये विषयों को, संक्षेप में लिखा जा रहा है। इसके महत्व और उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने के लिए पौनःपुन्य भी आवश्यक है। निम्नलिखित बिन्दु संस्कृति की सुरक्षा के लिए स्मरणीय है।

1. डॉ. राधाकृष्णन के विचार–अपने देश के राष्ट्रपति रहे, विख्यात विचारक और दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'ऐन आइडियलिस्ट विवु ऑफ लाइफ में 1952 में ही जो विचार व्यक्त किया था, वह, अब सब को स्पष्ट है। उनका मन्तव्य है कि पराधीनता के समय जिन बातों और मूल्यों के लिए हम लड़ते रहे तथा उन्हें नहीं छोड़ा उन्हें स्वतंत्रता के बाद हम स्वयं छोडते जा रहे हैं। इस पर उन्होंने आश्चर्य और असन्तोष व्यक्त किया है।

आध्यात्मिक और वैज्ञानिक मनोवृत्ति के समन्वय पर उन्होंने बल दिया है। अपनी धरोहर को सुरक्षित रखते हुए, आधुनिक बनना, उन्होंने उचित समझा है। ऐसे विचारों की उपेक्षा का परिणाम हम देख रहे हैं। अतः उनके विचार आदरणीय हैं।

2. संविधान की उद्देश्यिका में संस्कृति के संरक्षण को जोड़कर, तदनुसार संविधान का स्वरूप और उसकी व्याख्या मानी जाय।

3. मूलाधिकारों का संरक्षण–संविधान के अनुच्छेद चौदह में समता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इसे प्रभावित किये बिना अन्य अधिकारों और प्राविधानों को बनाया जाय।

4. नीति निर्देशक तत्वों में से अनुच्छेद 43 तथा 44 बहुत महत्वपूर्ण है। इनके ऊपर कार्यवाही नहीं की गयी। इनसे सामाजिक व्यवस्था तथा आर्थिक योजना सही दिशा में हो सकती है।

5. योग्यता की प्रतिष्ठा–यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। राष्ट्रपति से चपरासी तक की पद के अनुरूप योग्यता होनी आवश्यक है। तुष्टीकरण या पूर्वाग्रह के कारण इसकी उपेक्षा करना अहितकर है।

6. आरक्षण की समाप्ति—सर्वत्र स्वस्थ प्रतियोगिता द्वारा चयन होना चाहिए। समता के अधिकार की उपेक्षा अनुचित है। जाति, लिंग, सम्प्रदाय का भेद शासन स्तर पर न रहे। प्रशासनिक कुशलता और दक्षता पर ध्यान देना आवश्यक है। पिछड़ों की उन्नति के न्यायसंगत उपाय हैं, उनको अपनाया जाय।

7. राजकीय सम्मान—पद, प्रतिष्ठा या सम्मान के लिए व्यक्ति की योग्यता तथा विषय का महत्व देखते हुए व्यवस्था की जानी चाहिए। प्रशासनिक, वैचारिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, समाज सेवा सम्बन्धी कलात्मक, मनोरंजन, खेलकूद, आदि विषयों पर अलग-अलग सम्मान दिये जायँ। समाज सेवा, वैज्ञानिक खोज चिन्तन तथा लेखन जैसे विषयों में सर्वोच्च सम्मान होना चाहिए।

8. नारी का सम्मान एवं सुरक्षा—इतिहास के मध्ययुग में विदेशी प्रभाव तथा जमींदारी प्रथा आदि के कारण स्त्रियों का सामाजिक स्तर वह नहीं रह गया जो हमारी संस्कृति में है। सामाजिक आन्दोलनों द्वारा कुछ कुरीतियों को समाप्त किया गया है। पुरानी संस्कृति को आदर्श मानकर नारी-समाज की संरचना होने पर दहेज प्रथा, सुरक्षा की समस्या आदि की समाप्ति हो सकती है। पुरुष के लिए अनिवार्य सहयोगी होकर नारी सशक्त और सम्मानित बनी रहेगी।

9. सामाजिक समरसता—जाति और वर्ग के रूप में समाज को विभाजित करने वाले कानून समाप्त किये जाय। परस्पर सहयोग और विश्वास कायम रखने के लिए समता के सिद्धान्त व योग्यता के आदर के साथ सारे कार्यों का यथास्थान महत्व स्थापित किया जाय। अछूत या निन्दनीय नहीं बल्कि सभी समाज के आवश्यक अंग के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करें। यह संभव है। योग्यतानुसार सम्मान देने पर सामाजिक समरसता बनी रहेगी।

10. संस्कृति-संरक्षण आयोग—सामाजिक विषयों से सम्बन्धित विभिन्न आयोगों को समाप्त करके, सबके लिए एक आयोग बनाया जा सकता है। सांस्कृतिक आधार पर, समाज को सबल बनाने के उद्देश्य से बना यह आयोग सभी समस्याओं को सामाजिक स्तर से सुलझाने में सक्षम होगा। नारी, अल्पसंख्यक, पिछड़े लोग, पुरातात्विक महत्व की बातें आदि के विषय में सांस्कृतिक दृष्टि से, समन्वित कार्यवाही हो सकती है।

राजकीय व्यवस्था और समाज का स्वतंत्र सहयोग दोनों मिलाकर ही सफलता संभव है। जहाँ तक अल्पसंख्यकों का प्रश्न है उन्हें कानून द्वारा भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा से जोड़ा जाय। ऐसा रूस, चीन आदि देशों में भी हो रहा है।

11. पंचायतों का पुनर्गठन—ग्राम स्तर को इकाई मान कर चलाये जा रहे पंचायत के विधान में बहुत झगड़े तथा भ्रष्टाचार को देखते हुए, इसका पुनर्गठन होना चाहिए। इसमें राजकीय तंत्र का वर्चस्व समाप्त करके समाज का वर्चस्व स्थापित होना चाहिए। इनमें पदाधिकारी होने के लिए योग्यता में समाज सेवा का अनुभव तथा उसमें ख्याति पर विचार किया जाय। यह प्रमाणित होना चाहिए कि लोकसेवा के लिए न कि राजकीय धन को लूटने के लिए यह व्यवस्था है। ग्राम स्तर को राजनीति से दूर रखने पर सामाजिक सद्भाव, परस्पर सहयोग बना रहेगा। ग्राम स्तर पर रोजगार के सृजन द्वारा विकास को प्राथमिकता दी जाय जिससे परस्पर सहयोग के साथ उत्पादन के कार्य हो सकें।

12. गुरुकुल प्रणाली से शिक्षा—गाँवों के वृद्ध लोग बेकार रहते हैं। सेवानिवृत्त शिक्षक या अनुभवी प्रबुद्ध लोग अपने घर पर बच्चों को नैतिकता तथा अनौपचारिक शिक्षा पढ़ाने का कार्य कर सकते हैं। यह हमारी शिक्षा प्रणाली में गुणात्मक सुधार का उपाय है। अपनी सांस्कृतिक परम्परा से पोषित होने के कारण इसका प्रचार उपयोगी होगा। इसमें शिक्षा विभाग का हस्तक्षेप न रहे। इन विद्यार्थियों की परीक्षा स्कूलों के विद्यार्थियों के साथ ही ली जा सकती है। योग्यतानुसार इन विद्यार्थियों को भी उच्च शिक्षा दी जा सकती है।

13. भयमुक्त समाज की स्थापना—पहले जो लोग धनबल और बाहुबल से सहायता प्रदान करते थे, अब वही लोग स्वयं राजनेता भी हो गये हैं। ऐसी स्थिति में समाज भयमुक्त नहीं रह सकता है तथा लोकतंत्र दिखावा मात्र रह जायेगा। सांस्कृतिक चेतना के साथ राजनेताओं को नैतिक होने के लिए बाध्य किया जाय। यह काम शासन तथा चुनाव आयोग के सम्मिलित प्रयास से करना आवश्यक है।

14. राजनीति में जाने के लिए योग्यता—यह पैरा भी पूर्व पैरा से सम्बद्ध है। राजनीति में प्रवेश के पहले समाज सेवा तथा धर्माचार्यों, प्रबुद्ध शिक्षकों तथा सदाचारी व्यक्तियों के माध्यम से नैतिक शिक्षा तथा शपथ को

आवश्यक किया जाय। सांस्कृतिक चेतना से यह संभव है। राजनीति को व्यवसाय बनाने से रोका जाय।

15. कश्मीरी ब्राह्मणों की समस्या—यह समस्या हमारी संस्कृति से सम्बद्ध है। कभी कश्मीर में शारदा पीठ था, जहाँ देश के विद्वानों की परीक्षा होती थी। आचार्य शंकर को इसी पीठ पर आसीन होने और सर्वज्ञता की उपाधि का इतिहास मिलता है। इतना बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र हर प्रयास से रक्षणीय है। अपनी संस्कृति के क्षेत्र को सिकुड़ने से बचाने के लिए उन ब्राह्मणों को पुनः स्थापित किया जाय। अनुच्छेद 370 को हटाना एक आवश्यक कार्य है।

16. राजभाषा—वैसे राजभाषा या राष्ट्रभाषा एक ही अर्थ में है किन्तु राजकीय कामों में राजभाषा ही कहा जाता है। हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक तथा संविधान के प्राविधान का अनुपालन है। इसे, कठोर निर्णय लेते हुए लागू कर देना चाहिए। संस्कृत को राष्ट्रभाषा का पद देकर सांस्कृतिक पहचान बनाई जा सकती है।

17. तुष्टीकरण की राजनीति—सामाजिक चेतना के अभाव में प्रत्येक दल की सरकारें अपने-अपने दल के लाभ के लिए तुष्टीकरण द्वारा जन-समर्थन प्राप्त करता है। उससे जाति, लिंग, धर्म के हित में कानून बनाना तथा राजकीय धन का दुरुपयोग होता है। सभी दलों पर ऐसी राजनीति करने पर रोक न्यायालय एवं चुनाव आयोग द्वारा हो सकता है। इसके लिए सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को प्रबल किया जाय।

18. जाति, क्षेत्र, लिंग, भाषा के विषय में तटस्थता की नीति—समता के सिद्धान्त को अनदेखी करके, इन आधारों को राजकाज में मान्यता देना बेईमानी है।समभाव रहना न्याय है। देश की अखण्डता तथा संविधान के द्वारा दिये गये अधिकारों की सुरक्षा के लिए इसे करना पड़ेगा। सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं के आधार पर व्यवस्था हो सकती है। हमारी संस्कृति में गुण ग्राहकता तथा समभाव रहे हैं। इससे अब भी लाभ होगा।

19. संविधान तथा कानूनों का संशोधन—संविधान में संशोधन का प्राविधान है। तदाधीन कानूनों का भी संशोधन होता रहता है। भविष्य में समता के सिद्धान्त, सामाजिक समरसता तथा सांस्कृतिक मानदण्डों के आधार पर संशोधन करने की नीति उपादेय है।

20. संस्कृति के संरक्षण में न्यायालय की भूमिका—संविधान में भारतीय संस्कृति के आदर का उल्लेख होने पर, न्यायालय द्वारा सांस्कृतिक संरक्षण के विषय में विशेष सहायता मिल सकती है। पाश्चात्य न्यायालयों के निर्णय तथा वहाँ की मान्यताओं को आदर्श मानने के बजाय अपने सांस्कृतिक परम्परा को साक्ष्य मानना संभव है। नैसर्गिक न्याय, न्यायालय से ही मिल सकता है।

न्यायाधीश भी इसी समाज के अंग हैं। अपनी संस्कृति से अनुप्राणित संविधान होने पर आई.पी.सी. की 377, 497 धाराएँ तथा हिन्दू विधि आदि अनेक विधान पहले से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से पुनः स्थापित हो सकते हैं। न्यायालयों द्वारा ही तुष्टीकरण हेतु, भेदभावकारी, अतार्किक तथा संस्कृति विरोधी कानूनों को समाप्त किया जा सकता हे। राजनैतिक भ्रष्टाचार को रोकने में न्यायालयों की बड़ी भूमिका संभव है। सांसदों के वेतन भत्ता, सुविधा, पेंशन की योजना आदि धन संचय के तरीके भी रोके जांय। सांस्कृतिक पक्ष को संविधान में स्थान मिलने पर बड़ा परिवर्तन संभव है।

21. सांस्कृतिक स्वतंत्रता—मुगल काल से ही स्वतंत्रता की लम्बी लड़ाई का उद्देश्य समता का अधिकार तथा संस्कृति की रक्षा रहा है। सास्कृतिक स्वतंत्रता की इच्छा से बलिदान होते रहे। गुरु तेग बहादुर ने इसीलिए बलिदान दिया था। यह हमारी संस्कृत की विशेषता रही है। इसी की रक्षा के लिए स्वतंत्रता संग्राम में विद्यार्थियों को न ढकेलने की राय दी गई थी। किन्तु यह नहीं मानी गयी थी। इसी का परिणाम जय प्रकाश आन्दोलन रहा जिससे शिक्षा का स्तर निन्दनीय हो गया है। शिक्षा में राजनीति का प्रवेश संस्कृति के अनुरूप नहीं है। समाज को भी राजनीति नहीं, लोकनीति चाहिए। सांस्कृतिक स्वतंत्रता लाकर हम इन उद्देश्यों की पूर्ति करसकेंगे। संविधान में सांस्कृतिक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया गया है। सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व के विषयों का पुनरावलोकन तथा उनकी प्रतिष्ठा करने पर नैतिक राजनीतिज्ञ भी पैदा होंगे।

22. देश, राष्ट्र और राज्य की सुरक्षा—देश (भू-भाग, सीमा, नदी-पहाड़ आदि), राष्ट्र (संस्कृति, स्वाभिमान, स्वदेशी की भावना आदि), राज्य (प्रशासक, शान्ति व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि) यह तीनों संविधान के अन्तर्गत रहते हैं। हमारी संस्कृति और शास्त्रों में इनकी

व्यवस्था के लिए पर्याप्त नियम हैं। स्वदेशी मामलों में संविधान में उन्हीं का समावेश होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विदेशी नीतियाँ भी अपनाई जा सकती हैं। तुलसीदास ने लिखा है–

तुम गुरु मातु सचिव सिख मानी।
पालेहु प्रजा पुहुमि रजधानी॥

अर्थात् देश, राज्य और प्रजा की सुरक्षा प्राथमिक राजधर्म है जिसे गुरु (शास्त्र) मातु (बड़े लोग) सचिव (अच्छे सलाहकार) की सहायता से करना हमारी संस्कृति में है। वृद्ध सेवा से राजधर्म में पवित्रता रहती है। तभी सब सुरक्षित रहेंगे।

23. स्मृतियों की प्रासंगिकता–आजकल मनुवादी शब्द निन्दापरक अर्थ में भी प्रयोग में आता है। संविधान में भी इसी मनुवादी व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। भारत में यहाँ की संस्कृति नहीं रही तो कहाँ रहेगी? यहाँ मनुवादी व्यवस्था ही होगी। आसुरी, राक्षसी, दानवी व्यवस्था तो स्वीकार नहीं की जासकती है। मनुवाद को महत्व न देने पर, अवांछित संस्कृतियों का प्रकोप बढ़ रहा है।

हमारी स्मृतियों में छुआछूत, सती प्रथा, असमानता, शूद्र का अनादर आदि सामाजिक अपराध की व्यवस्था नहीं है। योग्यतानुसार बड़े-छोटे सबका सम्मान होता है। योग्य होने पर संत रविदास भी सम्माननीय थे। स्मृतियों का शासन शिथिल होने पर ही सब दुर्गुण हमारे समाज में आए हैं। इन्हें दूर करने के लिए भी मनुवादी व्यवस्था ही आवश्यक है। अन्य तरीकों की असफलता देख रहे हैं। शास्त्र का गलत अर्थ लगाना, अपनी कमजोरी को समाज के दूसरे अंग पर लादने की इच्छा आदि बातें नई व्यवस्था में प्रचलित हो रही हैं। ब्राह्मण शब्द से गलत अर्थ लिया जाता है। ब्राह्मणत्व तो योग्यता और त्याग तपस्या का वाचक है। ब्राह्मणवादी नहीं वे तो मनुवादी व्यवस्था को प्रासंगिक मानने में ही हमारी संस्कृति की सुरक्षा है। सुरक्षित न रखने पर दानवी संस्कृति ही इस देश में भी फैलती जा रही है। अक्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं कामनं ब्रजेत। इस प्राचीन कहावत का अर्थ है कि घर से ही मधु मिल रही है तो जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है। उसमें खतरा भी है। अपनी सम्पन्न संस्कृति को छोड़कर, दूसरे की अतार्किक संस्कृति को अपनाना मूर्खता है। यह हमारी गुलामी का अवशेष है। विश्व के सभी देश अपनी संस्कृति के संरक्षण को महत्व दे रहे हैं।

हमारे यहाँ उलटा कार्यक्रम चल रहा है। अब हमें सांस्कृतिक स्वतंत्रता की चेतना परमावश्यक है।

24. दलित, पिछड़े, अति पिछड़े का निर्धारण—हमारे यहाँ इस महत्वपूर्ण कार्य को जाति के आधार पर करके लाभ के स्थान पर हानि और असुविधा पैदा की जा रही है। जातिवाद और वर्ग विद्वेष से समाज टूट रहा है। दलित तथा पिछड़ों की सुरक्षा तथा उनकी उन्नति करना आवश्यक है। इसके लिए आर्थिक एवं शिक्षा तथा सभ्यता के स्तर को आधार बनाया जा सकता है। इस आधार पर भी ९०% वही लोग पात्र होंगे किन्तु विवाद नहीं रहेगा। पद प्रतिष्ठा में आरक्षण, मुफ्त धन, अनुदान आदि न देकर योग्यता बढ़ाने में सहायता दी जाय। यह उनके स्वाभिमान की सुरक्षा भी करेगा तथा समस्या की समाप्ति में सहायक होगा। इससे सामाजिक विवाद दूर रहेगा तथा सांस्कृतिक पक्ष सबल बनेगा।

25. उपसंहार—हमारे संविधान के निर्माण में यह स्पष्ट है कि दलितों और पिछड़ों को सम्मानित स्तर पर पदासीन करने के लिए सर्वत्र (आरम्भ से अन्त तक) व्यवस्था व्याप्त है। यह उद्देश्य अच्छा था किन्तु तर्क, परम्परा और प्रयोग तीनों के द्वारा इस व्यवस्था से हानि होनी स्पष्ट है। इसमें दूरदृष्टि का अभाव रहा है। आरक्षण और संरक्षण की नीति तथा सम्बन्धित कानून बड़े घातक सिद्ध हुए हैं। स्वतंत्रता के समय इन विषयों पर ध्यान न देने के कारण हम सांस्कृतिक गुलामी और सामाजिक समस्याओं के शिकार हुए हैं।

यह बातें किसी की निन्दा नहीं बल्कि ध्यानाकर्षण के लिए सकारण लिखी जा रही हैं। बहुत लोग इन बातों को अच्छी तरह समझ रहे हैं किन्तु राजनैतिक दाव-पेंच के कारण कोई सुधार नहीं हो रहा है। इस दिशा में साहसपूर्वक कार्य करने वाला व्यक्ति सांस्कृतिक स्वतंत्रता का नायक तथा महापुरुष माना जाएगा। भारतीय शासनप्रणाली में से जातिवाद व तुष्टीकरण की नीति समाप्त होनी चाहिए। प्रचारतंत्र, उद्योगपति तंत्र, बाहुबली तंत्र जाति तंत्र जैसे तंत्रों से मुक्ति दिलाकर शुद्ध भारतीय लोकतंत्र की स्थापना करना युगपुरुष के ही वश में है। वही व्यक्ति दृढ़ सांस्कृतिक आधार पर भारतीय समाज और लोकतंत्र की स्थापना करेगा। समर्थ लोगों तथा प्रबुद्ध सामाजिक कार्यकर्ताओं के हाथ में इस प्रस्ताव को समर्पित करता हूँ।